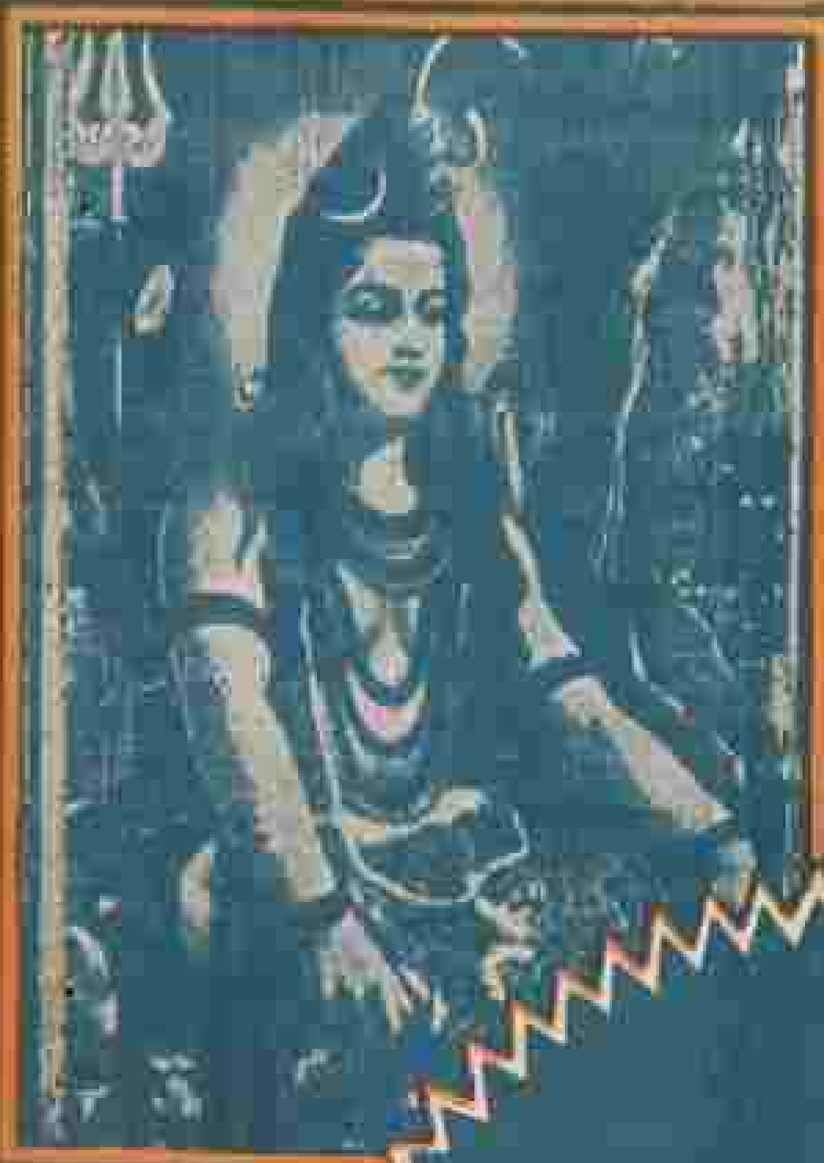

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

वर्ष - १०

अंक - १

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

- पृथिव्यां बहु रोचते — १
- वासनायें और उनका समूलोन्मूलन (विशेष लेख) — २
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- बुद्धियोग का स्वरूप — ५
  आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम० ए०
- आओ मनुष्यता का हम जन्मदिन मनायें (कविता) — २६
  श्री लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र' एम० ए०
- चर्चा— — २७
  श्री सद्गुरु
- विचार और आचार — ३३
- भाग्य का प्रभाव — ३४
  श्री डा० केशवराम शर्मा
- प्राणायाम एवं उसके भेद — ३७
  श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री
- मन की तरंग — ४१
  श्रीमती सरिता भारद्वाज, बी. एड.
- 'योग महोत्सव ऋषिकेश' का उपयोगी विवरण — ४३
  श्री रामगोपाल दीक्षित, झांसी
- परम तपस्वी ऋषि शमीक — ४७
  श्रीमती डा० राजकुमारी मिश्र

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

दिसम्बर १९८४

वार्षिक मूल्य २५ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सर्वाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १७
अङ्क ९

दिसम्बर
१९८५

ध्यायं ध्यायं नित्य परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विजयतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
गतामालमिम् बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,
सत्प्राणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

पृथिव्यां बहु रोचते

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे
तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥

-अथर्ववेद

अर्थात्

जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर, बड़े उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्यनिग्रह, आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर स्नातक हो करके पूर्ण विद्याओं को धारण कर सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ गुण कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है, वही धन्यवाद के योग्य है।

वीर्य निग्रह और ब्रह्ममय आचरण बनाकर रहने वाले साधक ही वस्तुतः ब्रह्मचारी कहलाते हैं। और ऐसे निष्ठावान ब्रह्मचारी ही पृथ्वी पर अपने यश का प्रकाश फैलाते हैं।

हमारा विशेष लेख—

वासनायें और उनका समूलोन्मूलन

— योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सिद्धयोग के मोक्षानुरागी पाठकों को हम वासनाओं और उनके स्वरूप तथा प्रभाव को प्रायः समझाने का प्रयत्न करते रहे हैं। प्रस्तुत लेख में भी इन वासनाओं के समूलोन्मूलन का दिशा-बोध करदेना हम आवश्यक समझते हैं। बिना वासनाओं के समूलोन्मूलन के जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मनुष्य मोक्ष का कभी भी भागी नहीं बन सकता है।

वासना और संस्कार दोनों एक दूसरे के आश्रित रहते हैं। वासना और संस्कारों का यह अटूट सम्बन्ध ही जीवन में मनुष्य के सुख-दुःखमय भोग का कारण बना रहता है। वासनाओं से संस्कार और संस्कारों से वासनायें पुनर्जीवित होती रहती हैं। बिना किसी रुकावट या व्यवधान के यह व्यवस्था चलती रहती है। देश जाति और काल का भी कोई व्यवधान इनके बीच में खड़ा नहीं हो पाता। स्मृति पुराने से पुराने संस्कारों को प्रकट कर देने या उभाड़ देने में उसी प्रकार अपना सहयोग प्रदान करती है जैसे अग्नि को प्रदीप्त कर देने में घृत धारायें उसकी सहायक बन जाती हैं। किसी भी संस्कार का अनुकूल-काल आने पर ज्योंही उसकी स्मृति जागती है वासनायें जाग्रत होकर अपना काम करना आरम्भ कर देती हैं और वे जाग्रत तथा उत्तेजित हुई वासनायें बलात् ही मनुष्य को विवश करा कर उस कर्म रूपी वृक्ष के नीचे ले जाकर पटक देती हैं, जिसका सुख-दुःख और जाति रूप फल उसे चखना अनिवार्य था। वासनायें इसीलिए अनादि बताई गई हैं। भगवान पतञ्जलि देव ने अपने योगदर्शन के चौथे पाद के सूत्र १० में स्पष्टता से इनके स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है—

तासाम अनादित्वम्

च आशिषः नित्यत्वात्।

अर्थात् वासनायें अनादि हैं क्योंकि इच्छायें अनादि हैं। इच्छाओं का सूक्ष्म रूप ही वासनायें कहलाती हैं। जीवात्मा का अन्तः भोगायतन मन-बुद्धि—इन्हीं का आधार-लेकर ही वासनायें जीवित रहती हैं। इसलिए इनका अभाव हो जाने पर वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। जीवात्मा जब देह में = मन में समाधि द्वारा अविद्या से युक्त हो जाता है तब यह कर्मों का भोक्ता बन जाता है। जब अविद्या से पुरुष

मन जभी आधार से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है तब वासना का आधार मन या चित्त छूट जाता है। इसके छूट जाने पर वासनायें अपने आप छूट जाती हैं। चूँकि चित्त या मन ही वासनाओं का आश्रय बनता है इसीलिए योगाभिलाषी साधकों को पहला पाठ योगश्चित्त वृत्ति निरोधः का सुस्पष्ट क्रियात्मक रूप से अभ्यास का परामर्श दिया करते हैं।

तन्मे मनः शिवसङ्कल्प मस्तु—

का सत्परामर्श भी इसी उद्देश्य से वेद भगवान द्वारा दिया है। जो चित्त शुभचिन्तन की रेखाओं से चित्रित रहेगा उससे वासनाओं की काली-काली रेखायें स्वतः ही तिरोहित हो जाती है वैसे ही जैसे भगवान भास्कर की प्रभापूर्ण रश्मियों के फैल जाने से घोर अन्धकार पलायन कर जाता है।

वासनाओं का अस्तित्व ही मनुष्य के जाति आयु और फलभोग का कारण बना करता है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है—चित्त ही इन वासनाओं का आश्रय या आधार बनता है। यहीं से वासनायें उपयुक्त समय आने पर प्रकट होकर अपना कार्य किया करती हैं। जब इन वासनाओं का अभाव हो जाता है तभी साधक मोक्ष और कैवल्य को प्राप्त कर लेने का अधिकारी बन जाता है। अतः जिन्हें जन्म-मरण के जाल से छूटकर मोक्ष पद पा लेने की अभिलाषा हो उन्हें वासनाओं और कामनाओं के बोझ या आधार को आवश्यक और अनिवार्य रूप से हटाना ही होगा।

चित्त को शास्त्रकारों ने प्रवृत्ति निमित्त की अपेक्षा से दो प्रकार का बताया है—बाह्य और आध्यात्मिक। जो शरीर आदि बाह्य विषयों और लौकिक स्तुति, अभिवादनादि का ... श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि का अवलम्बन ग्रहण करता है वह आध्यात्मिक कहा जाता है। बाह्य चित्त बाह्य जगत में विकसित होता है और श्रद्धा वीर्य, समाधि प्रभृति प्राणायाम आदि गुणों का अवलम्बन लेकर अन्तर्मुखता की ओर जो प्रवृत्त होता है वह अन्तर्जगत में विकास को प्राप्त होता रहता है। चित्तवृत्ति निरोध का अभिप्राय भी यही है कि चित्त को बाह्य इन्द्रिय विषयों से हटाकर उसे श्रद्धा और निष्ठा के साथ अन्तर्मुख बनाते हुए, उस महान् ईश्वर के असीम आनन्द-सागर में विलीन कर दिया जाय। यहाँ ... के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं है।

वासनाओं और उनके निवास-स्थल आशय आदि के समूलोन्मूलन का एक उपाय यह भी है कि साधक अपने सभी कर्मों को निष्कामता से केवल प्रभु के लिए करते रहने का सहज स्वभाव बना ले। यह सहज स्वभाव अभ्यासयोग से प्राप्त किया जा सकता है। वासनाओं का मूल निष्काम भाव से सभी कर्म करते रहने से दग्ध होकर पुनः फल देने के अयोग्य हो जाता है। अतः अनेक जन्मों की वासनाओं के उन्मूलन और संस्कारों के दग्धीकरण के लिए योगमार्ग का सतत अवलम्बन करना चाहिए।

यहाँ एक शङ्का सहजतया यह उत्पन्न हो जाती है कि जब वासनायें अनादि हैं तब उनका उन्मूलन कैसे सम्भव हो सकता है ? इस शङ्का का निवारण करते हुए व्यास-देव ने योगदर्शन के अपने भाष्य में कहा है:-

'धर्म से सुख, अधर्म से दुःख, सुख में राग और दुःख में द्वेष होता है। इन राग और द्वेष से प्रयत्न होता है। उस प्रयत्न से मन वाणी और शरीर से चेष्टा करता हुआ किसी पर अनुग्रह करता है और किसी की हानि। ऐसा करने से फिर धर्म-अधर्म, सुख-दुःख राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार यह छः अरों वाला संसार-चक्र चलता है। इस प्रतिक्षण घूमते हुए चक्र को चलाने वाली अविद्या है। यही सब क्लेशों का मूल होने से अनन्त-अनादि का कारण है। जिसके आश्रय होकर जो उत्पन्न होता है वह उसका फल है तथा धर्म-अधर्म के सुख-दुःख भोग फल हैं। अधिकार संयुक्त चित्त वासनाओं का आश्रय है, क्योंकि जिस चित्त की फलभोगरूप सामर्थ्य समाप्त हो गयी है उसमें ये वासनायें निराश्रय होकर नहीं ठहर सकतीं। जिसके सम्मुख होने से जो वासना प्रगट होती है वही उसका आलम्बन है (ये रूप, रस आदि इन्द्रिय के विषय हैं) इस प्रकार यह सब वासनायें हेतु, फल आश्रय और आलम्बन से संगृहीत हैं, (इसलिए यद्यपि ये वासनायें अनादि और अनन्त हैं तथापि) इन हेतु आदि चारों के अभाव होने पर उनके आश्रय रहने वाली वासनाओं का अभाव भी हो जाता है।'

भोजवृत्ति में भी व्यास भाष्य के कथन का समर्थन इस रूप में किया गया है :—

भोजवृत्ति—

'इन वासनाओं के अनन्त होने से इनका नाश कैसे होता है ? इसके नाश का उपाय यह है कि—

'वासनाओं का समीपवर्ती (वर्तमान) ज्ञान कारण है। उस सुख-दुःखादि के ज्ञान के राग-द्वेषादि कारण हैं। उन राग-द्वेषादिकों का कारण अविद्या है। इस प्रकार वासनाओं का कारण साक्षात् अथवा परम्परा से अविद्या है। वासनाओं के फल शरीरादि और स्मृत्यादि हैं। वासनाओं का स्थान चित्त है। जो ज्ञान का विषय है, वही वासनाओं (संस्कारों का) विषय है। इससे उन हेत्वादिकों से अनेक वासनाओं का भी संग्रह व्याप्त हो रहा है अर्थात् अनेक वासनायें व्याप्त हैं। जब वासनाओं के हेत्वादिकों का नाश हो जाय अर्थात् ज्ञान और योग से उन हेत्वादिकों को भुने हुए बीज के बराबर कर दिया जाय तो जड़ के न रहने से वासनायें नहीं उगतीं अर्थात् शरीरादि को नहीं आरम्भ करतीं। इस प्रकार अनन्त वासनाओं का नाश हो जाता है।'

—x— —x— —x—

बुद्धियोग का स्वरूप

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम. ए.

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति की बाह्य शक्तियों की अपेक्षा आन्तरिक शक्तियों का अधिक महत्व है। साधना के क्षेत्र में चाहे जप, ध्यान, भक्ति या ईश्वर शरणागति हो अन्तःकरण की पवित्रता के बिना सिद्धि नहीं मिलती। जब तक साधक बाहर के सम्बन्धों गेह, देह और स्नेह से अपने को ग्रसित रखता है तब तक उस पर ईश्वर की कृपा नहीं होती। जब साधक सर्वात्मना अपना सब कुछ अर्पित करके स्वीकार कर लेता है तो साधना में आनन्द आने लगता है। तदनन्तर आनन्द और उत्कर्ष का अनुभव करता हुआ साधक अभय और अविनाशी मोक्ष पद पर आरूढ़ हो जाता है। यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्दर की शक्तियों से हम कैसे युक्त हों? आत्मसाक्षात्कार या योग ध्यान समाधि प्राप्त कर कैसे जन्म मृत्यु के बंधन से मुक्त हों?

उपनिषदों ने१ हमें इस दिशा में सफल होने की एक युक्ति बतायी—कि यह नित्य केवल अपरिणामी आत्मतत्त्व सूक्ष्म बुद्धि के संयोग से पकड़ में आ सकता है।२

हम अपने सारे व्यवहार बुद्धि के आश्रित होकर ही तो करते हैं। जिसकी जैसी समझ और बुद्धि है—सात्त्विकी, राजसी या तामसी उसी के प्रकाश से हम कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त हुआ करते हैं। यह बुद्धि हमारे अन्तःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की महारानी है। यदि यह अनुकूल हो जाय तो साधक आत्मा के साम्राज्य में आनन्द पूर्वक विचरण कर सकता है। यदि बुद्धि महारानी की कृपा न हो तो साधक के जीवन में मन, अहंकार, चंचल चित्त का राज्य हो जाता है जहाँ वृत्तियों के प्रवाह का साम्राज्य-सुख होता रहता है। इन्द्रियों के सतत् प्रवाह में कलुषित तथा उसका सुख दुःखात्मक भोग चलता रहता है।

१—यस्त्वविज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति।
संसारं चाधिगच्छति। विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ कठोपनिषद् १/३

२—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
कठो० १/१२

इस रहस्य को समझकर वैदिक ऋषियों ने बुद्धि को शुद्ध सात्विक और रजोगुणी एवं चंचलता बनाने के लिए यज्ञ औषधि उपासना आदि साधनों का उपदेश किया। बुद्धि यद्यपि जड़ है किन्तु चेतन पुरुष के सान्निध्य से यह चेतन की भांति होकर आत्मतत्व का बोध कराने लगती है। यहाँ तक कि पुरुष (परात्पर ब्रह्म) का ज्ञान भी बुद्धि कराती है। इसी से पुरुष बुद्धिबोधात्मा कहा जाता है। योग-दर्शन के व्यास भाष्य में पुरुष को बुद्धि का प्रति संवेदी कहा गया है।[१] बुद्धि में जब रजोगुण और तमोगुण की न्यूनता हो जाती है तथा शुद्ध आहार-विहार से चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है तो—'आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' के नियमानुसार साधक में स्मृति उत्पन्न हो जाता है इससे चित्त शान्त हो जाता है। तब—

समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते। येनयथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्याद् असम्प्रज्ञातः समाधि भवति।

योग द० भाष्य १/२०

अर्थात् चित्त समाहित होने पर प्रज्ञाविवेक प्रकट हो जाता है जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। सद् तथा असद् का ज्ञान होने पर योगी जड़ का त्याग तथा चेतन का ग्रहण करने का अभ्यास करते-करते असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँच जाता है जहाँ पहुँचकर योगी के सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं और वह कैवल्य प्राप्त करता है। यहाँ ग्रहण और त्याग शंका पैदा करने वाले शब्द ही सकते हैं। नित्य चेतन जानकर, मानकर, देखकर उसमें स्थित होना अधिक उपयुक्त अभिव्यक्ति होगा। यह सब बुद्धि महारानी की कृपा के फलस्वरूप ही तो हुआ। भगवान किसी को सुख या दुःख नहीं देता। अपने पाप पुण्यों के कर्म ही बुद्धि को मलिन या प्रकाशयुक्त कर देते हैं। जिससे यह जीव सुख, दुःख, रोग, शोक का भोक्ता होता रहता है। लोक में भी ऐसे कहावत है कि जिसे दुःख भोगना होता है उसकी बुद्धि विकार युक्त हो जाती है।

जाको प्रभु दारुण दुख देही।
ताकी मति पहले हरि लेही॥

तथा

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।

यह उक्ति बुद्धि के प्रभाव की द्योतक है। योगी आहार शुद्धि आसन, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान समाधि के द्वारा बुद्धि तत्व को शुद्ध कर लेता है तब यही शुद्ध तत्व प्रधान हो जाने पर ऋतम्भरा कहलाती है। कार्य तथा अवस्था भेद से यह बुद्धितत्व प्रधान,

१—बुद्धेः प्रति संवेदी पुरुषः २/२० का व्यास भाष्य

प्रज्ञा, मेधा, धी, मति, आदि नामरूपों से जाना जाता है। वैदिक मन्त्रों में स्थान-स्थान पर ऋषियों ने बुद्धि को सूक्ष्म तथा चैतन्ययुक्त बनाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की है। गायत्री मन्त्र में बुद्धि के ही 'धी' रूप की उपासना—'धियो यो नः प्रचोदयात्' इस मंत्र भाग में की गई है, इसी प्रकार अन्य स्थलों पर 'मेधा' की उपासना के मन्त्र मिलते हैं:—

× × × ×

यां मेधां देवगणाः
पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने
मेधाविनं कुरु स्वाहा।।

तथा

ॐ मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः मेधामिन्द्रश्च वायुश्च। मेधां धाता ददातु मे स्वाहा।।

यजु० ३२/१५

× × × ×

भगवान् श्रीकृष्ण ने विमोहित हुए अर्जुन को सर्वप्रथम यही उपदेश दिया कि पहले बुद्धि को निर्मल बनाओ। बुद्धि के आलोक में बैठकर जो भी कर्म होंगे वे कर्म बन्धन से मुक्त होने में सहायक होंगे। हे अर्जुन! तू बुद्धि को आत्मा की ओर अभिमुख तो कर। फिर देख, कैसे तू कर्म-बन्धन से विमुक्त नहीं होता?

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ
कर्मबन्धं प्रहास्यसि।

गीता २/३७

जब कोई भी कर्म किया जाता है तो पहले बुद्धि में निश्चय किया जाता है तथा मन से संकल्प एवं मनन किया जाता है पश्चात् कर्मेन्द्रियों के द्वारा वैसा ही कर्म सम्पादित होता है। जैसे यात्रा करने से पूर्व हम यह निश्चय करते हैं कि अमुक स्थान पर अमुक कार्य के लिए जाना चाहिए। यह बुद्धि का व्यापार हुआ। मन संकल्प करता है कि चलें। कर्मेन्द्रियाँ मन का आदेश पाते ही क्रियाशील हो जाती हैं और हम चल पड़ते हैं। हम जो कुछ भी बोलते हैं उसके लिए भी उपर्युक्त प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है। पहले निश्चय किया कि बोलें फिर बोलते हैं और कर्म भी वैसा ही करते हैं। जैसा कर्म होता है वैसे ही हम बन जाते हैं। सात्त्विक कर्म हुआ तो हम सात्त्विक प्राणी बन गये और यदि राजसिक हुआ तो राजसिक, तामसिक हुआ तो तामसिक आदि। शास्त्रीय नियम है कि—

यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति। यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। यत्कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते।।

जो बुद्धियोग का उपासक होता है वह भगवान को सबसे अधिक प्रिय होता है। यही

प्रभु कृपा का विशेष अधिकारी होता है। रामचरितमानस में कहा है—'ज्ञानी प्रभुहि विशेष प्यारा।' गीता में भी भगवान कहते हैं कि ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है।

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

यहाँ ध्यान देने की एक विशेष बात यह है कि ज्ञानी तो चोर डाकू भी हो सकता है। संसार का संहार करने के लिए एटम बम बनाने वाला वैज्ञानिक भी ज्ञानी कहा जा सकता है। ऐसा ज्ञानी प्रभु कृपा का अधिकारी नहीं है। जो ज्ञान प्रभु की बगिया की शोभा बिगाड़ दे, उसके चमन को उजाड़ दे, वह कैसा ज्ञानी? जो बुद्धि की कुशलता का उपयोग परद्रोह वर्जन तथा प्रकृति को समझने में ही करते हैं वे अपने भाग्य के अनुरूप फल प्राप्त किया करते हैं। जब तक प्रभु की कृपा नहीं होती तब तक मनुष्य बुद्धिमान होकर भी भक्त नहीं हो पाता। उसकी बुद्धि डाक्टर का चाकू न बनकर कसाई की तलवार की तरह दूसरों का अहित करने वाली बनी रहती है। अतः जीवन में नित्य और अनित्य, नाशवान् और अविनाशी, का निश्चय करने वाली बुद्धि विवेक सम्पन्न होती है। विवेक ज्ञान होने पर मनुष्य वैराग्य युक्त होता है तभी सच्चा ज्ञानी बनता है और तभी भक्ति का उदय होता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

होइ विवेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरण अनुरागा॥

विवेक का सूर्य उदित होते ही भ्रम और मोह के बादल दूर हो जाते हैं, तभी प्रभु चरणों में अनन्य भक्ति हो पाती है। भक्ति होने पर ही वास्तविक ज्ञानी बनता है योगा-योगेश्वर भगवान शंकर इसीलिए प्रसङ्गवश ये कहते हैं कि ज्ञान यदि योगहीन है या योग ज्ञान से बिना है तो वह मोक्ष का प्रदाता नहीं हो सकता। अतः ज्ञान और योग दोनों का सामञ्जस्य होना चाहिए तभी कल्याण सम्भव है।

योगहीनं कथं ज्ञानं
मोक्षदं भवतीश्वरि।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु
न भवति मोक्षकर्मणि॥
योगबीजम् १७

अपने आपको पण्डित और विद्वान मानने वाले जीवन भर प्रमाण प्रमेय और शब्दसिद्धि तथा ईश्वर सिद्धि के लिए बौद्धिक व्यायाम करते रहते हैं किन्तु अन्त में वे [illegible] की तरह ईश्वर तथा प्रमेय पदार्थ की अनुभूति से सर्वथा वंचित रहते हैं, इसका प्रमुख कारण यह है कि वे अहंकार और पूर्वाग्रह से बुद्धि के प्रकाश को ढक देते हैं। जिससे वे आत्म तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान शब्दों की सीमा के आगे स्वीकार नहीं करते। जो पदार्थ शब्दातीत है उसे शब्द प्रमाणों से कैसे जाना जा सकता है। शास्त्र तो इशारा भर करके शान्त हो जाते हैं। जैसे सर्दी जाने के लिए

हवाई जहाज से जायें तो हवाई जहाज तो हमें एक स्थान पर छोड़ देगा। वहाँ से आगे स्वयं चलकर घर के अन्दर जाना पड़ेगा। भगवान शङ्कराचार्य कहते हैं कि—शब्द जाल में पड़कर बुद्धि मोहित हो जाती है। शब्दों और व्याकरण के शाब्दिक बोध से आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। आदि शंकराचार्य जी भी यही कहते हैं कि—'नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे'—अर्थात् व्याकरण के सूत्र तुम्हारी रक्षा नहीं कर पाते। इनसे तो बुद्धि ठीक दिशा में खोज पाने की तैयारी मात्र करती है। ये तो साधन मात्र हैं। लेकिन हम इन्हीं को साध्य मानकर अपना जीवन इन्हीं के चक्कर में नष्ट कर देते हैं। ऐसे तथाकथित अभिमानी विद्वानों की दुर्गति हमने प्रत्यक्ष देखी है। अधिकांश विद्वान मरने के बाद ब्रह्मराक्षस योनि में भटकते हुए देखे हैं जो अपने मोक्ष के लिए योगीसाधकों के समक्ष आकर सहायता की याचना किया करते हैं। [illegible] में इसीलिए भगवान भूतभावन स्पष्ट घोषणा करते हैं—

अनेक पाठ संख्याकैः
तर्क व्याकरणादिभिः।
पतिताः शास्त्र जालेषु
प्रज्ञया ते विमोहिताः॥
—योगबीजम्

अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं
शक्यते न सुरैरपि।
स्वात्म प्रकाश रूप तत्
किं शास्त्रेण प्रकाश्यते। १०

जो मन वाणी से अगम-अगोचर तत्त्व है, उसे शब्द से कैसे जाना जा सकता है? वह तो गूँगे के गुड़ की तरह स्वानुभव गम्य है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने बुद्धि के साथ योग शब्द जोड़ा है। बुद्धि जब समाधि को प्राप्त होकर आत्म चैतन्य के दर्शन करती है तभी जड़-चेतन ग्रन्थि खुलती है और आवागमन से मोक्ष होता है। परमहंस रामकृष्ण कहा करते थे कि उन्हें पंडितों को देखकर भय लगता है। वह चील की तरह बहुत दूर तक देखता है और कल्पना की उड़ान भी बहुत ऊँची भरता है। किन्तु जैसे चील ऊँचे उड़ती हुई भी नीचे पड़े मुर्दे की तलाश ही करती रहती है उसी तरह शास्त्रों के बड़े-बड़े सिद्धान्त का बखान करने वाले विद्वान थोड़े से सांसारिक सम्मान या धनलोभ के चक्कर में शास्त्रों की गलत सलत व्याख्या करने से नहीं हिचकते। सत्य को जानकर भी उसका आचरण न करना, अपनी आँख का स्वयं आदर न करना राक्षस का लक्षण है। इसीलिए कहा जाता है कि 'साक्षराः विपरीतत्वे राक्षसाः एव केवलम्' साक्षराः का अर्थ है जो पढ़ा-लिखा है, साक्षर शब्द को उलटने पर जैसे राक्षस शब्द बन जाता है वैसे ही उपरोक्त बुद्धिवादी हो कर अनैतिक कार्य करते देखे जाते हैं। वे

जानते हुए भी अपने ज्ञान का स्वयं आदर नहीं कर पाते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कलियुग के प्रसंग में ऐसे बुद्धिवादियों के बारे में कहा है कि आजकल के ज्ञानी लोग ब्रह्मज्ञान से नीचे तो बात ही नहीं करते किन्तु अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए गाय, ब्राह्मण तथा अपने गुरु, पुत्र, पिता आदि का कत्ल करने में किसी से पीछे नहीं रहते। इसीलिए शास्त्रकारों ने स्पष्ट घोषणा की कि प्रखर बुद्धि होने से ही कल्याण नहीं होगा। बुद्धियोग होना चाहिए। बुद्धि के साथ ज्ञान के साथ योग होगा तभी वास्तविक कल्याण होगा। बड़े-बड़े [illegible], आइन्स्टाइन और अन्य ज्ञानी (Genius) कोटि के पाये गये हैं। बुद्धि में वे बड़े बड़े ज्ञानियों को मात दे देते हैं। लेकिन उनकी बुद्धि बन्धन का ही कारण बनती है, मोक्ष का नहीं। योगाधीश्वर भगवान सदाशिव इसीलिए कहते हैं ज्ञानी, विरक्त, धर्मज्ञ अथवा जितेन्द्रिय भी योग के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि
धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विनायोगेन देवोऽपि
न मोक्षं लभते प्रिये ॥

यो० बी० ९२

ज्ञानी व्यक्ति सतत् ब्रह्मचिन्तन निदिध्यासन करता रहे तो—

बहूनाम् जन्मनामन्ते
ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

अनेक जन्मों के बाद वह सर्वत्र भगवान के दर्शन करने पर मोक्ष का भाजन बन पाता है। ज्ञान का फल वैराग्य है। ज्ञान द्वारा जब यह निश्चय हो जाता है कि सत्पदार्थ क्या है, और असत् पदार्थ क्या है, तो उसकी प्रवृत्ति गुणवैतृष्ण्य की ओर जाती है। ज्ञानी विषय-भोगों की निःसारता तथा उनका परिणाम दुःख समझकर उधर से मुँह मोड़ लेता है और अपने नित्य चेतन स्वरूप में अवस्थित होने का अभ्यास करने लगता है। अभ्यास करते-करते कर्मवश [illegible] शरीरान्त हो जाय तो वह पुनः अपने पाप पुण्य के फलानुसार जन्म ग्रहण करता है। जब उस ज्ञानी के जीवन में अभिलाषा का अन्त हो जाता है तब महान् पुण्यों के फलस्वरूप उसे सिद्ध पुरुषों की कृपा प्राप्त होती है। सिद्ध कृपा प्राप्तकर वह योगी बनता है फिर देहपात से भी उसका पुनरावर्तन नहीं होता क्योंकि वह तब त्रिगुणी स्थिति से निकलकर त्रिगुणातीत स्थिति में नित्ययुक्त हो जाता है।

देहान्ते ज्ञानिनः पुण्या-
त्पापाच्च फलमाप्नुते।
यादृशं तु भवेत्तत्र
भक्ती ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥

पुण्यात्पुण्येन लभते
सिद्धेन सह संगतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया
योगी भवति नान्यथा ॥
यो० बी० ६३

ज्ञानी निषेध से चलता है अतः उसका मार्ग लम्बा होता है। वह विश्लेषण कर देखता है कि मैं पृथ्वी नहीं हूँ, वायु नहीं हूँ, मैं अग्नि हूँ, आकाश भी मैं नहीं हूँ............ इस प्रकार करते-करते वह इस निश्चय पर पहुँचता है कि मैं 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहम्' 'मैं सच्चिदानन्द हूँ', यह निश्चय कर यह मनन और निदिध्यासन करता है। अभ्यास करते-करते वह जन्मते-मरते-बहुत काल के बाद योग द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँचता है जबकि योगी प्राण और मन को वश में करके स्थिर बुद्धि के रथ पर आरूढ़ होकर मोक्षमार्ग की ओर चल पड़ता है। प्राणायाम धारणा ध्यान तथा समाधि से जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो योगी में स्वात्मज्ञान का उदय हो जाता है। अतः कहा जाता है कि योग ऐसी क्रिया है जिससे ज्ञान का स्वयं उदय हो जाता है।

शुद्धे चेतसि तस्यैव
स्वात्मज्ञानं प्रकाशते ।
तस्माज्ज्ञानं भवेद् योगा-
ज्जन्मनैकेन पार्वति ।
यो० बी० २५

योगी को एक ही जन्म में ज्ञान हो जाता है जब कि ज्ञानी को बहुत जन्म लग जाते हैं आत्मानुभूति के होने में। 'ज्ञान' का अर्थ भी वह नहीं है जिसे हम लोग आम तौर पर Knowlege के नाम से समझा करते हैं। जानकारी को ही हम लोग ज्ञान समझा करते हैं। जानकारी व्यवहार में नहीं आती वह किस काम की। बुद्धि का भार होने से क्या फायदा। Wisdom सच्चा ज्ञान है ज्ञान स्वात्म चैतन्य प्रतीति का आभास है। भगवान योगेश्वर श्रीकृष्ण ने आत्मतत्व के बोध को ही ज्ञान माना है जिससे नित्य तत्व में स्थिति हो जाती है। गुणों के भेद से ज्ञान भी सात्विक राजसिक एवं तामसिक होता है। जब 'सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पाणी॥' की प्रतीति होती है तो इस ज्ञान को सात्विक कहते हैं। सात्विक ज्ञान से कर्म बन्धन और दुःखों का अत्यन्त क्षय हो जाता है। सभी प्राणियों में अखण्ड एक परमात्मा को व मालों की माला में अनुस्यूत सूत्र की भाँति देखना सच्चा ज्ञान है। जब सभी पदार्थों में भिन्नता और नानात्व की प्रतीति होती है तो वह ज्ञान राजसिक है तथा दुःख और बन्धन का कारण है। जब मनुष्य अपने को ही सर्वस्व समझता है अन्य सभी में तुच्छ बुद्धि रखकर अन्यान्य स्वार्थ के कार्यों में लिप्त रहता है तो इसे तामसिक ज्ञान कहते हैं। जिसका परिणाम घोर दुःख है

(गीता १८/२०, २१, २२) अतः सात्विक ज्ञान से ही योग का अवलम्बन किया जा सकता है और यही 'बुद्धियोग' का वास्तविक स्वरूप होता है।

ईश्वर की कृपा के बिना न ज्ञान मिलता है, न ध्यान होता है। भगवान की कृपा की पहचान यह है कि कृपा होने पर बुद्धि सात्विक हो जाती है। व्यक्ति को अच्छे, बुरे, पुण्य पाप का निश्चय होने लगता है तथा शुभ कर्मों की ओर उसकी चेतनावस्था की तरह स्वतः प्रवृत्ति होती रहती है जैसे पेड़ से पीला पत्ता स्वतः टूट कर अलग हो जाता है उसी प्रकार बुद्धियोग प्राप्त होने पर अशुभ तथा पापविचार का स्वतः त्याग होने लगता है। सतोगुणी बुद्धि होने पर आहार-विहार और आचार विचार अपने आप सुधरने लगते हैं। जीवन में पवित्रता का निवास होने लगता है। आहार शुद्धि, शरीर शुद्धि, मनशुद्धि, विचार शुद्धि एवं सुविचार तथा कर्म शुद्धता का भाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है। साधक के जीवन में दिव्यभाव तथा दैवी सम्पत्ति आने लगती है। उसमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ही क्षमा धृति, दया व शान्ति का खजाना भरता चला जाता है। ऐसे बुद्धियोग को पाकर साधना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। यदि बीच में ही लक्ष्य तक पहुँचने से पहले शरीर छूट गया तो पुनर्जन्म में पहले शरीर की बुद्धि के धर्म अगले जन्म में सहायक बन जाया करते हैं। जन्म से ही ऐसे साधकों में विनम्रता, पवित्रता तथा वैराग्य का भाव प्रबल होता है। यदि उन्हें सुयोग मिल गया तो आगे की उनकी साधना निर्बाधरूप से हो जाती है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसे गुरुदेव की कृपा से बुद्धियोग मिल गया वह कल्याण का भाजन अवश्य बन जाता है। यदि वह इस जन्म में पूर्ण नहीं हो पाता तो अगले जन्म में बुद्धि संयोग के द्वारा उसे पूर्व जन्म का शुभ कर्मों का फल प्राप्त हो जाता है। जिसे पाकर साधक पूर्णता प्राप्त करने की दिशा में पुनः साधना करने लगता है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं
लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

गीता ६/४३

जिस पर करुणा सागर श्री सद्गुरु की अहैतुकी कृपा हो जाती है उसे हाथ में दीपक मिल जाता है जिसके प्रकाश में साधक जड़-चेतन की गांठ को खोलने में समर्थ हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने ज्ञानदीपक प्रसंग में बड़े ही सुन्दर तथा मार्मिक शब्दों में बुद्धियोग का वर्णन किया है। जो बुद्धि परम सयानी होती है वही गांठ खोलने में सफल हो पाती है जिसके निश्चय में दृढ़ता नहीं होती वह काम,

क्रोध, लोभ, मोह के चक्कर में पड़कर (सद्गुरु) की कृपा से ज्ञानदीपक को बुझा डालता है। जो शिष्य निरन्तर अपने इष्ट की कृपा का भरोसा रखते हैं वे उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। प्रेम से उसी की याद में दीवाने बने रहते हैं। उन्हीं के नाम की माला फेरते रहते हैं। उन्हीं को परमगुरु बुद्धियोग का दीपक देते हैं। उस दीपक के प्रकाश में वह विचार, वितर्क आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत समाधि की स्थिति प्राप्त कर अपने शुभाशुभ कर्मों को ज्ञानाग्नि से जलाकर निर्जीव कर देता है। अविद्या अस्मिता रागद्वेष और अभिनिवेश के क्लेशों को समूल नष्ट कर देता है तथा अज्ञान का नाश कर कर्माशय का लोप कर देता है। जब सारा झगड़ा समाप्त हो जाता है तो फिर वह निरालम्ब चैतन्य सिद्ध, अनन्त आनन्द स्वरूप ही हो जाता है। योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण गीता के दसवें अध्याय में दसवें श्लोक में इस रहस्य का उद्घाटन करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां
भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं
येन मामुपयान्ति ते॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थ-
महमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो
ज्ञानदीपेन भास्वता
१०/११

अर्थात् जिन्होंने अपनी अपनी सात्त्विक बुद्धि से यह निश्चय कर लिया है कि प्रभु ही गति भर्ता तथा इस प्रपंच के साक्षी हैं। दुःखों की निवृत्ति के लिए उन्हीं की शरण में जाने से कल्याण होगा। ऐसा मानकर जो पवित्र प्रणवादि मन्त्रों का प्रेम और भाव सहित जप करते रहते हैं उन्हें प्रभु कृपा कर बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं जिससे वे ज्ञानी अथवा भक्त बनते हैं और उन्हें सिद्धयोग का विहंगम मार्ग मिल जाता है जिस पर चलकर वे शीघ्र प्रभु के समक्ष स्थित हो जाते हैं। ऐसे सात्त्विक श्रद्धा परायण भक्तों के हृदय में भगवान स्वयं बैठकर सब कुछ साधना करा देते हैं। उनकी बुद्धि में आत्म-ज्ञान इतना दृढ़ कर देते हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मोह से उनकी बुद्धि विस्मृत या भ्रमित विमूढ़ नहीं होती उनका चित्त अपने इष्ट में उसी प्रकार लगा रहता है जिस प्रकार नट का चित्त सारे करतब दिखाते हुए भी रस्सी से एक क्षण को भी अलग नहीं होता। गुरुदेव बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश दे देते हैं जिससे अज्ञान तथा उससे होने वाले सारे विकार ठीक-ठीक पहचानने में आ जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप साधक के मन से आसक्ति तथा रागद्वेष अपने आप

दूर होने पर वैराग्य का उदय हो जाता है। त्रिगुणात्मिका माया जब यह समझ लेती है कि मुझे पहचान लिया गया है तो फिर वह अपना जाल बन्द कर देती है। साधक को फिर वह भुलावे में नहीं डालती। जैसे जो व्यक्ति जादूगर के हाथ की सफाई और चालाकी को जान लेता है, जादूगर उसे अपना खेल नहीं दिखाना चाहता। जो माया पहले भ्रम, अज्ञान, मोह और बंधन में डालने वाली थी वही सद्गुरु की कृपा मिल जाने पर कल्याणी माँ बनकर योगी का योगक्षेम जुटाने में लग जाती है। वह उसे भोग और मोक्ष दोनों एक साथ देने में तत्पर दिखाई देने लगती है। काकभुशुण्ड जी गरुड़ से कहते हैं कि—

तब ते मोहि न ब्यापी माया।
जब ते रघुनायक अपनाया॥

माया और छाया एक जैसी होती हैं। जो उसको पकड़ने की कोशिश करता है उससे वह दूर भागती जाती है। जो उससे मुँह मोड़ लेता है, उसकी वह दासी बनकर सेवा करती है। उसके पीछे-पीछे भागी फिरती है। यह सब सद्गुरु की असीम महान कृपा के परिणाम स्वरूप होता है। सद्गुरु जब कृपा करते हैं तो शिष्य को 'बुद्धियोग' प्रदान करते हैं। उसके हाथ में ज्ञान का दीपक पकड़ा देते हैं जो निरन्तर जलता रहता है। जिसे विषयों की हवा बुझाने में अपने को असमर्थ पाती है। उस ज्ञान दीपक के प्रकाश के सहारे साधक भव सागर को गोखुर की तरह सरलता से पार कर परमपद को प्राप्त कर लेता है।

साधक के जीवन में जब तक ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक उसकी साधना एक प्रकार का दिखावा या खानापूरी मात्र ही समझनी चाहिए। जैसे एक घण्टे आसन कर लिए दो घण्टे जप कर लिया और एक घण्टे ध्यान कर लिया। मन्त्राधिकारी को इस तरह धीरे-धीरे अभ्यास व रटे-रटाए से लाभ होगा। जीवन में नियमानुवर्तिता आयेगी। अच्छे संस्कार जागेंगे। शनैः शनैः अवश्य लाभ होगा। किन्तु जो ज्ञान पूर्वक (तज्जपस्तदर्थ-भावनम्) अर्थ की भावना करते हुए जप करेगा वो तत्पर ध्यान और समाधि में पहुँच जायगा। दियासलाई सूखी है और ढंग से डिब्बी रगड़ने का ज्ञान है तो पहली रगड़ में ही अग्नि प्रकट हो जायगी। यदि उसको रगड़ का ज्ञान नहीं है। अथवा वह सीली है—विषय भोगों की चाह है तो रगड़ने पर भी आग नहीं जलेगी। चाहे डिब्बी हर समय दियासलाई के साथ रहे तो भी बिना ज्ञान और क्रिया के अग्नि प्रकट नहीं हो सकती। सन्त लोग ऐसा कहते हैं कि जहाँ साधना के पीछे प्रेरणा का कारण ज्ञान होगा वहीं वैराग्य प्रकट होगा तथा साधना उत्तरोत्तर बढ़ेगी। व्याकरणादि शास्त्रों में इस सम्बन्ध में बहुत

शास्त्रार्थ और विचार किया गया है कि ज्ञान पूर्वक की गई क्रिया फलदायी होती है अथवा केवल क्रिया ही फलदायी होती है, क्या ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है? जैसे अग्नि को जानकर छुए या बिना जाने छुए हाथ जल ही जायगा। ऐसा सर्वथा उचित नहीं है। यदि ज्ञानपूर्वक अग्नि का स्पर्श करेंगे तो उसका सदुपयोग करेंगे, हाथ जलाने के लिए उसका उपयोग नहीं करेंगे, जबकि अज्ञान से स्पर्श किया होगी तो उसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ेगा। अतः शास्त्रीय भाषा में ऐसा कहा गया है कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया विधि से धर्म होता है और अज्ञानपूर्वक की गई क्रिया से अधर्म होता है। अतः 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। यह गीता का सिद्धान्त निर्विवाद रूप से सही है। साधना की प्रेरणा के मूल में दो स्रोत मुख्य होते हैं। एक मोह और दूसरा ज्ञान। जहां साधना के पीछे प्रेरक तत्व मोह होगा वहां नियम का पालन मात्र होता रहेगा, अधिक प्रगति नहीं होगी। दूसरी ओर जहां प्रेरणा का स्रोत ज्ञान होगा वहां शीघ्र गति और प्रगति होगी। मन और प्राण बुद्धि के संकेत पर गुरुत्व अनुकूल दिशा की ओर हरकत करने लगेंगे जिससे साधक में एकाग्रता का बोध उदय होगा तथा साधना—ध्यान, जप, भजन, आसन या प्राणायाम आदि में रस और आनन्द आने लगेगा। ज्ञानपूर्वक की हुई साधना आनन्द देती है, जबकि मोह से की गई साधना मन को क्षोभ, शंका, व्याकुलता में डाल देती है। गुरुदेव के श्रीचरणों में अनेकों साधक मोह की प्रेरणा से आते हैं—'धन्धा व्यापार ठीक चल पड़े', 'शादी हो जाय,' 'नौकरी लग जाय,' 'रोग ठीक हो जाय,' आदि-आदि मन की अनेक कामनाओं से बंधे हुए आते हैं। उन दीनानाथ की करुण कृपा से अभिलाष की इच्छायें पूरी हो भी जाती हैं। फिर वे प्रायः यह शिकायत करते हैं कि इतने दिन हो गये, हमारा ध्यान नहीं लगता, अनुभूति नहीं होती। मोह मूलक साधना का दुष्परिणाम यह हो जाता है कि साधक अपनी इच्छा को ही प्रधानता देने की भूल कर बैठता है। 'उसकी इच्छा पूरी हो गई' आगे भी उसकी इच्छा पूरी होगी, होनी चाहिए। मैं इतने वर्ष से जप करता हूं।' इतने साल मुझे साधना करते हुए हो गये इसलिए मैं सबसे श्रेष्ठ हूं, आदि-आदि धारणायें उसके अन्दर सूक्ष्म अहंकार को बढ़ावा दे देती हैं। जिससे वह उन करुणामृतसागर दयानिधान की कृपा को प्रधान न समझकर अपने पुरुषार्थ को प्रधान समझने लगता है। यहां कर्तापने का अभिमान हुआ साधक मझधार में डूबा। जो 'तू ही तू' की रट लगाता रहा वह तो पार हो और जिसमें यह भाव आ गया कि 'मैं भी किसी से कम नहीं' उसका बेड़ा गर्क हुआ। श्री गुरुदेव के सम्मुख तो क्रोध, अबोध,

अज्ञानी बालक बनने में ही कल्याण है। इसी का अमृत जैव वहाँ अभिमान के पहाड़ पर नहीं पहुँच पाता। जो जितना नीचा बनकर रहना जान लेता है वह उतनी ही कृपा का अधिकारी बन जाया करता है। जहाँ साधक में यह भाव आने लगे कि वह बहुत सामर्थ्यवान है और अन्यों से विशिष्ट है तो उसे समझना चाहिए कि उसका अहंकार पुष्ट हो रहा है। यह साधक को जितना चढ़ा है, उतना भी नहीं रहने देगा। कृपा प्राप्त होने पर हृदय में प्रेम की गंगा प्रवाहित होने लगती है। साधक के जीवन से अहंकार दूर होता जाता है। जब साधना के मूल में प्रेम की प्रेरणा होती है तो साधक हर समय अपनी जाँच पड़ताल करता रहता है कि कहीं से किसी वेश में उसका अहंकार उसके घर में न घुस जावे। अहंकार, मोह या दम्भ के रहते साधना से अभीष्ट लाभ की कल्पना करना आकाश के तारे तोड़ना है। प्रेममूलक साधना की पहली विशेषता है कि वहाँ निष्कामता होगी। छोटी-छोटी इच्छाओं की सन्तुष्टि के लिए वहाँ कोई फरियाद नहीं होगी। योगी ऋद्धियों और सिद्धियों को पाकर भी न उनसे अपने आपको विशिष्ट प्राणी समझता है और न उसे इस बात का अभिमान ही होता है कि वह इनके बल से बड़ा है। उसे सृष्टि का सारा रहस्य ज्ञात हो जाता है। वह जानता है कि यहाँ तक त्रिगुणात्मिका सृष्टि है—चाहे वह देव लोक हो या गन्धर्व-लोक—सभी जगह गुण के खेल चलते हैं अतः वे हेय हैं। उपादेय निजात्मस्वरूपस्थिति ही है। अतः वह सिद्धियों को भी मार्ग के विघ्न समझकर नमस्कार कर देता है। अर्थात मोहवश साधना में प्रवृत्त साधक सिद्धियों के चक्कर में फँसकर उन्हीं में उलझकर रह जाता है। आगे नहीं बढ़ पाता। जिसकी इच्छायें सीमित होती हैं वह भी गुरुदेव की कृपा का हर क्षण स्मरण करता रहता है और मानता है कि उसका अपना भाग्य और प्रारब्ध जितना था उससे कई गुना अधिक उसे कृपा से मिल रहा है। इस प्रकार की धारणा से साधक का जीवन शिकायत की अपेक्षा अहसान और कृतज्ञता के भाव से हर-क्षण भरा रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्री सद्गुरु की अनन्त कृपा का अथाह सागर उसके हृदय में हिलोरें लेता रहता है। साधक के हृदय में स्वयं सद्गुरुदेव प्रतिष्ठित हो जाते हैं जिससे गुरु से गुरु ज्ञान, बन्ध, मुद्रायें उसके अन्तर में कृपा द्वारा बिना अभ्यास के सहज रूप से प्रकट हो जाती है और वह सिद्धयोग का उत्तम विद्यार्थी बन जाया करता है। चिति शक्ति स्वयं उसकी साधना का संचालन करती है। साधक के लिये जो उपयोगी क्रियायें हैं, वे आप से आप होने लगती हैं। उसका ग्रन्थिभेदन स्वतः होता

जाता है। खेचरी, शाम्भवी, वज्रोली, अमरोली आदि गुप्त क्रियायें उनको अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

ज्ञानी बनने पर परीक्षा देनी पड़ती है। गुरुदेव की परीक्षा में पास होना बड़ा कठिन है। अतः ज्ञान के प्रकाश की इच्छा करनी चाहिए। ज्ञानी बनने के अभिमान से साधक को सावधान रहना चाहिए। भक्त को भी कर्मों की शुद्धता की परीक्षा देनी पड़ती है किन्तु जो पूर्णरूपेण ईश्वर प्रणिधान कर चुका है उसे परीक्षा नहीं देनी पड़ती। रामचरितमानस में विभीषण का शरणागति प्रसंग इस तथ्य को प्रमाणित करता है। जब विभीषण अपने भाई रावण का पदप्रहार खाकर श्रीराम की शरण प्राप्त करने गये तो श्रीराम ने पूछा—तुम ज्ञानी, भक्त या कर्मयोगी हो? विभीषण बोले निशाचरवंश में जन्म लेने के कारण ज्ञानी नहीं अन्धकार का प्रेमी हूँ। रावण सीताजी का हरण कर लाया किन्तु मैं उसका विरोध नहीं कर सका। अतः भक्त भी नहीं हूँ। पाप प्रिय होने के कारण मैं कर्मयोगी भी नहीं हूँ। केवल हनुमान के वचनों पर श्रद्धा करके मैं आपकी कृपा का आसरा लेने आया हूँ।

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ।
प्रभु भंजन भव भीर॥
त्राहि त्राहि आरति हरन।
सरन सुखद रघुबीर॥

मनु महाराज में ज्ञान और तप का अहंकार था अतः हजारों वर्ष तक तपस्या करने पर भगवत्साक्षात्कार हुआ और ध्रुव को नारद जी की कृपा से शरणागति भावना के फलस्वरूप छः महीने में ही दर्शन हो गये। बुद्धियोग में बुद्धि को बाह्य विषयों से हटाकर अपने आराध्य में लगाना होता है। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण योगजिज्ञासु अर्जुन को यही उपदेश देते हैं कि 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव' १८/५७ हे अर्जुन तू स्वार्थ के चक्कर में क्यों पड़ा है। अपनी बुद्धि से विचार कर देख संसार में कोई सुखी है क्या? जिसके पास सब कुछ है वह इस बात की चिन्ता से दुःखी है कि जो कुछ उसके पास है वह कहीं नष्ट न हो जाय। जिसके पास कुछ नहीं है उसे इस बात का दुःख है कि वह खाली है। इस मृत्यु लोक में कितने धर्मात्मा, ज्ञानी, विद्वान और धनीमानी व्यक्ति नहीं हुए। उन्हें आज कोई जानता भी नहीं। किसी का भी शरीर हमेशा रहने वाला नहीं है। इसलिए उस अविनाशी की खोज में क्यों न अपने को लगा ले। जो अनित्य पदार्थ को देखकर नित्य चेतन का बोध कर लेता है, उससे बढ़कर बुद्धिमान और कौन होगा? जो मिट्टी के बदले हीरा खरीद ले, उसकी बुद्धि

की बलिहारी है। दुनिया के सारे लोग जीवन भर घाटे का ही सौदा करते रहते हैं। इसलिए उन्हें पछताना पड़ता है। दुनियादार लोग इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर विषय-भोगों में इसे नष्ट कर देते हैं, उनसे बड़ा बुद्धिहीन और कौन होगा। जो अनित्य शरीर से नित्य का लाभ नहीं कर पाता, उसे दुहरा घाटा होता है। अनित्य शरीर तो नष्ट होता ही है जो नित्य चेतन था वह भी हाथ से निकल गया। ऐसा हत भाग्य जीव 'कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय' की उक्ति को सार्थक कर देता है। जो अपनी बुद्धि से संसार की नश्वरता की परीक्षा कर अमरत्व के साधना की ओर मन लगा देता है, अपने चित्त में श्रीकृष्ण को बसा लेता है, उनकी मुरली की ध्वनि हर क्षण सुनता रहता है, उनकी श्यामल सूरत और मोहनी मूरति की छवि को देखने के लिए अपने नेत्रों को भिखारी बना देता है, जो अपने प्यारे को अपने प्राणों में रमा लेता है, जो अपने हृदय के सिंहासन पर अपने जीवनधन को अभिषिक्त करता रहता है,—उसकी बुद्धि से अच्छी बुद्धि किसकी होगी? किसी-किसी भाग्यवान जीव के जीवन में ऐसा संयोग मिलता है कि उसका शरीर स्वस्थ हो और घर पर भरण पोषण के ठीक साधन हों। फिर कोई ऐसा गुरु मिल जाय जो उसे विशुद्ध ज्ञान देकर योग में प्रवृत्त कर दे। योग साधना में भी साधक इन्द्रिय लोलुपता के चक्कर से बचा रह सके और डटकर अपना ग्रंथि भेदन कर ले। गोस्वामी जी कहते हैं कि तमोगुण तथा मोह की प्रबलता के कारण हर साधक योग में सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। जब प्रभु की विशेष कृपा हो जाय और उसे बुद्धियोग गुरूपदेश मिल जाय तब प्रभु कृपा से वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर पाता है—

जीव हृदय तम मोह बिसेषी।
ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥
अस संजोग ईस जब करई।
तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥
सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
जौं हरिकृपा हृदय बस आई॥

× × ×

सोऽहमस्मि इति बृत्ति अखण्डा।
दीपशिखा सोइ परम प्रचण्डा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।
तब भवमूल भेद भ्रम नासा॥
प्रबल अविद्या कर परिवारा।
मोह आदि तम मिटइ अपारा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा।
उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई।
तब यह जीव कृतारथ होई॥

जो साधक श्रद्धा का दामन पकड़े रहता

है वह प्रभु कृपा का अधिकारी होता है। श्रद्धा राजसी या तामसी हुई तो बात नहीं बनेगी। सात्विक श्रद्धा चाहिए। सात्विक श्रद्धा के लिए भोजन सात्विक कर्म तथा सात्विक उपासना आवश्यक है। जब सतोगुण की वृद्धि हो जायगी तो विवेक ज्ञान उत्पन्न हो जायगा।

सत्वात् संजायते ज्ञानम्
रजसो लोभ एव च।
प्रमाद मोहौ तमसो
भवतोऽज्ञानमेव च॥

गीता १४/१७

सतोगुण की वृद्धि होने पर देह की सभी इन्द्रियों में प्रकाश उत्पन्न हो जाता है तथा हरक्षण सुख की अनुभूति होती है। बुद्धि जब सतोगुणी हो जाती है तो उसमें प्रवृत्ति निवृत्ति कार्य-अकार्य, बन्धन और मोक्ष का संशय एवं भ्रम रहित ज्ञान हो जाता है। जब बुद्धि रजोगुणी होती है तो धर्म अधर्म, कार्य अकार्य का अयथार्थ ज्ञान होता है। तमोगुणी बुद्धि अधर्म को ही धर्म तथा अकार्य को ही कार्य एवं बन्धन को ही मोक्ष का साधन समझती है। तामसी बुद्धि में विपरीत बोध होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में बुद्धि के त्रिगुणात्मक स्वरूप का कथन किया है:—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च
कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति
बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी।
यया धर्ममधर्मं च
कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति
बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या
मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च
बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

१८/३०,३१,३२

जब तक खान-पान और आचार-विचार शुद्ध पवित्र और सात्विक नहीं होगा तब तक सात्विक बुद्धि हो ही नहीं सकती। जब तक बुद्धि सात्विक नहीं होगी तब तक जप, तप, ध्यान सब व्यर्थ सा ही है। जप के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है कि वाचिक जप से उपांशु तथा उससे भी मानसिक जप हजारों गुना अधिक गुणकारी होता है। किन्तु उससे भी हजारों गुना अधिक फलदाई वह जप होता है जो मन की तीक्ष्ण बुद्धि से किया जाय। श्री गुरुदेव की कृपा से जब मन बुद्धिगत हो जाता है तो श्वांस-प्रश्वांस में स्वाभाविक रीति से मन्त्र जप होने लगता है और ध्यान और समाधि भी सहजरूप से होने लगते हैं। 'तस्वीरे यार मेरे दिल में है, जरा गर्दन झुकाई, देखली।' शुद्ध चैतन्यतत्व जिसे चाहे

हम आत्मा कहें, पुरुष कहें या ईश्वर कहें वह बुद्धि के एकदम समीप है। बुद्धि की अनुकूलता हो जाय तो अन्तरंग में जाने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता) यह सिद्धान्त बुद्धि और आत्मा के अन्तरंग निकट सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। इसलिये योगेश्वर श्रीकृष्ण बार-बार अर्जुन को यही उपदेश करते हैं कि—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ
कृपणाः फलहेतवः।

अर्थात् बुद्धि की शरण में जाकर [illegible] ने 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' (गीता) भाव से कर्म-रत रहें। अहंकार के वश में रहकर कार्य करेगा तो तेरे अन्दर कर्तापने का भाव आ जायगा जहाँ कर्तापना है वहाँ भोक्ता बनना पड़ेगा। फल की चाह करने वाला अहंकार के वश में होकर कर्म करता है। वह सदा दीनहीन बना रहता है। उसे फल और उससे नये कर्मों के बीज मिलते रहते हैं जिससे वह कर्म बन्धन से कभी मुक्त नहीं हो पाता। बुद्धि से युक्त होकर जब साधक कर्मरत होता है तो उन कर्मों से अज्ञान की निवृत्ति और आत्म-शुद्धि होती जाती है।

सात्त्विक बुद्धि से युक्त होने पर बुद्धि में स्थिरता आती है। 'गंगा गये तो गंगादास और यमुना गये तो यमुनादास' की स्थिति डाँवाडोल चित्त की है, क्यों कि चंचल बुद्धि का परिणाम होता है। जहाँ बुद्धि स्थिर हुई, साधक में दृढ़ निश्चय हो जाता है—'कार्यं वा साधयामि, देहं वा पातयामि'—करो या मरो का निश्चय स्थिर बुद्धि होने पर ही होता है। स्थिर बुद्धि होने पर चित्त का एकाग्रता परिणाम होता है। जिससे साधक अंतर्मुख होता है और ब्रह्मतत्व को प्राप्त कर ब्रह्म में स्थिति हो जाता है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य
नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो
ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।
५/२०

तालाब का जल जब तक स्थिर नहीं होता तब तक उसमें प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई नहीं पड़ता। उसी तरह जब तक बुद्धि स्थिर नहीं होती है तब तक प्रत्याहार या धारणा भी नहीं हो सकती। जब मन के संकल्प—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य वैराग्य द्वारा समाप्त से हो जाते हैं तथा बुद्धि में धैर्य की मात्रा बढ़ने लगती है तभी बुद्धि मन तथा इन्द्रियों को ब्रह्मानुभव के मार्ग पर लेजाकर ब्रह्म प्राप्ति करा देती है। साधक को चाहिए कि अपने दृढ़ निश्चय को कभी न छोड़े तो बुद्धि स्थिर हो जायगी, वह धैर्य के मन्दिर में आसीन हो जायगी। फिर मन भी जहाँ-जहाँ जायगा वहाँ-वहाँ से बुद्धि

का आत्मिक निश्चय उसे खींचकर नियंत्रित कर देगा।

शनैः शनैरुपरमेद्
बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा
न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
६/२५

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बुद्धि स्थिर कैसे हो? भगवान श्रीकृष्ण गीता में इस प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

प्रसादे सर्वदुःखानां
हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
२/६५

अर्थात् जिसका चित्त सदा प्रसन्न रहता है उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। प्रसन्न चित्त होने पर सांसारिक दुःखों का प्रवेश मन में नहीं होता। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि जिसके उदर में अमृत का स्रोत फूट पड़ा हो, उसे भला भूख प्यास की पीड़ा सतायेगी? जैसे वायु रहित स्थान में दीपक की ज्योति निश्चल बनी रहती है वैसे ही जो बुद्धि को निश्चल बना लेता है वह समाधि में भी निश्चल होकर बना रहता है। मोक्ष की जिज्ञासा जिसके मन में आग की तरह धधकती रहती है उसकी बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। ऐसे साधक को इन्द्रियों का विषय वेग विचलित नहीं कर पाता। वह लोक व्यवहार करता हुआ भी उसकी गंदगी को झाड़कर साफ-सुथरा बना रहता है। भगवान कहते हैं कि जिसमें अहंकार भाव (कर्तापन) नहीं है तथा बुद्धि को कार्य से अलग रखने की जिसने कला सीख ली है, वह किसी का वध करके भी पाप का भागी नहीं होता।

यस्य नाहंकृतो भावो
बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्
न हन्ति न निबध्यते॥

जिसकी बुद्धि अचल है, अचल रहती है वह कर्ताभाव को प्राप्त नहीं होता। जब कर्ता नहीं तो भोक्ता कैसे बन सकता है। युद्ध में सैनिक परस्पर मारकाट करते हुए भी पाप के भागी नहीं होते अपितु स्वर्ग को प्राप्त करते हैं क्योंकि उनकी बुद्धि उस कर्म का निर्णय नहीं करती। जैसा आदेश उन्हें अपने अधिकारियों से मिला, उसका पालन उन्होंने कर दिया। आदेश हुआ कि 'फायर' तो गोलाबारी शुरू हो और दूसरा आदेश हुआ 'स्टोप फायरिंग' तो एक दम तुरन्त वहीं के वहीं रोक दिये, इसी तरह जो आत्मा के आदेश में चलने लगता है उसकी बुद्धि कर्म तथा उसके विपाक से अछूती बनी रहती है। जज फांसी का हुक्म देकर भी हत्यारा नहीं कहा जाता।

जल्लाद फांसी देने का कार्य करके भी हत्यारा नहीं कहा जाता। हालांकि अपराधी और जल्लाद दोनों की क्रियाओं का फल किसी के प्राण लेना है। एक ही प्रकार का कार्य होते हुए भी बुद्धियुक्त होकर कार्य करना और अयुक्त बुद्धि से कार्य करने का भेद होने के कारण दोनों के फल में भेद हो जाता है। एक को प्राणों से हाथ धोने पड़ते हैं और दूसरा अपना कर्तव्य पूरा करने के कारण सरकार से वेतन के रूप में पुरस्कार पाता है।

जब इन्द्रियां अपने विषयों तक ही सीमित रहें तो भी बुद्धि स्थिर रह सकती है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सिनेमा देखने के लिए सिनेमा देख लेते हैं किन्तु देखने के बाद यदि उनसे पूछा जाय कि उसमें क्या कथा थी? कौन-कौन एक्टर थे? तो वे नहीं बता सकते। ऐसा इसलिए कि आंख और कान को ही उन्होंने रूप और शब्द रूपी विषय के साथ जोड़ा, मन और बुद्धि तो वे अलग बने रहे। जबकि इसके विपरीत जिन्होंने अपनी इन्द्रियों के साथ अपने मन और बुद्धि को भी सिनेमा की फिल्म के साथ जोड़ दिया वे सिनेमाघर से निकलने के बाद कई-कई दिन और महीनों उस देखे हुए दृश्य के सुख-दुःख का अनुभव करते रहते हैं।

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य
प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। २/६८

जैसे नदियां समुद्र में लय हो जाती हैं वैसे ही विषय इन्द्रियों में लय हो जाय तो बुद्धि स्थिर हो जाती है। उसकी भी बुद्धि स्थिर हो जाती है जो राम को छोड़कर काम को और ध्याता ही नहीं। जो सदा आत्मानन्द में तृप्त रहता है वह सभी विषयों की इच्छा छोड़ देता है। जिसने अपनी इन्द्रियों को बुद्धि के वश में करके रक्खा है, उसकी बुद्धि को विषय चञ्चल नहीं बना पाते। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य
युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ २/६१

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेटकर अपने अन्दर छिपा लेता है, उसी प्रकार जो साधक अपनी सारी इच्छाओं को समेट एक बड़ी इच्छा में समेट लेता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है। सौ रुपये की रेजगारी को जिसप्रकार सौ रुपये के एक नोट में बदल कर सुगमतापूर्वक रखा जा सकता है वैसे ही सांसारिक कामनाओं का मोक्ष सिद्धि की इच्छा के रूप में जो एकट्ठा कर हल्का बना लेता है वह विषयों के भार से दबता नहीं। उसकी बुद्धि स्थिर हो जाना कहते हैं। जिसके पास जितनी मात्रा में सन्तोष की पूंजी है वह उतनी ही मात्रा में सुखी है। गोस्वामी जी का मत है—

'बिनु सन्तोष न काम नसाहीं।
काम अछत सपनेहुँ सुख नाहीं॥'

अपने अन्तःकरण को जो आत्म ज्ञान से परिपूर्ण कर लेते हैं उनके जीवन में सन्तोष आ जाता है। जो सबके प्रति समानभाव रखता है, भेदभाव से परे है,—प्राणिमात्र पर दयाभाव रखता है। अच्छा होने पर गर्व नहीं करता और बुरा होने पर विषाद नहीं करता। हर्ष और विषाद दोनों ही स्थितियों में जो एकभाव में रहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है।

स्थिर बुद्धि होने पर कर्मयोग के द्वारा साधक पाप से छुटकारा दिलाने वाली बुद्धि से अकर्म निषिद्ध कर्म तथा पाप कर्मों को दूर करता हुआ पुण्यों का अर्जन करता है जिससे शनैः शनैः वह निष्काम कर्मयोग का अधिकारी बन जाता है। जिस साधक के मन में अनेकों संकल्प विकल्पों की खिचड़ी पकती रहती है। जो बहुत सी शाखाओं में एक साथ सवार रहता है, वह कहीं का नहीं रहता। जो व्यवसायात्मिका बुद्धि को इकट्ठा कर एक लक्ष्य की ओर उन्मुख कर देता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। जैसे दीपक की ज्योति छोटी होने पर भी बहुत बड़े कमरे को प्रकाश से भर देती है, उसी प्रकार कुशाग्र बुद्धि एक होने पर भी अनेकों से कहीं अधिक महत्व की है। क्यों कि यद्यपि बहुत उपयोगी होने से बड़ी लगती है तथापि सद्-बुद्धि की शक्ति के आगे वह निष्प्रभ है जिसकी बुद्धि स्वार्थसाधन में ही लगी रही, जो सम्पत्ति भव की कामना से हमेशा लिप्त रहती है वह समाधि प्राप्त नहीं कर सकता।

'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां
तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः
समाधौ न विधीयते॥'
२/४४

जो बुद्धियोग का उपासक होता है वह शुभ-अशुभ या हानि-लाभ को एक सा समझ कर अपने मार्ग पर चलता रहता है। प्रायः देखा जाता है कि जो लोग मानसी प्रेरित होकर घरबार छोड़ते हैं वे अपने लक्ष्य की ओर चलते-जाते हैं और जो भी क्षणिक आवेग के वश में आकर घरबार छोड़ा करते हैं वे कभी दिगम्बरी, तो कभी पीताम्बरी, कभी जोगी कभी भोगी तो कभी खाली पेट के गुलाम बन जाते हैं। जहाँ मन तथा बुद्धि क्रिया ज्ञान का ऐक्य होता है—करनी और कथनी में अन्तर नहीं होता वहाँ चित्त में समाहित-बुद्धि आ जाती है। जहाँ करनी तो यह है कि हम प्राणायाम की साधना कर रहे हैं और कथनी में रसगुल्लों से मन की सेवा करते वहाँ योगाभिसिद्धि कैसे हो सकती है। एक योगाश्रम पर एक सिद्ध योगी ने अपने शिष्य को

प्राणायाम की शिक्षा दी उसे एक कमण्डल भी दे दिया और आदेश दिया कि वह अभ्यास काल में केवल पूर्णतः खिचड़ी का सेवन करेगा तथा आठ प्रहरों में शास्त्रोक्त प्राणायामों का अभ्यास करेगा जिससे उसमें वह योग्यता आ जायगी कि उसका प्रकाश आवरण क्षीण हो जायगा और उसमें रूहानी रोशनी प्रकट हो जायगी जिससे वह दूर-दर्शन, दूरश्रवण आदि विशेष शक्तियों को प्राप्त कर सकेगा। शिष्य स्वाद-लोलुप था। खिचड़ी से उसका मन ऊब जाता तो वह छिपकर रसगुल्ले बनाकर खा लेता। ऐसा करते-करते वह प्राणायाम करना छोड़ बहिर्मुख होकर इन्द्रिय जगत में विचरण करने लगा। योगसाधना छोड़कर पैसा कमाने के चक्कर में पड़ गया। श्रेष्ठ कर्मों का दृढ़ता से पालन करते-करते बुद्धियोग प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म करते हुए भी योगी कर्मफल से मुक्त रहता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने बुद्धि युक्त होकर कर्म करने का उपदेश दिया है। यदि बुद्धियोग से कर्म किये जायें तो वे कर्म मोक्ष के साधन बन जाते हैं। जैसे स्वाध्याय भी एक कर्म है। प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप अथवा गीता रामायण, योगवासिष्ठ, वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। स्वाध्याय का फल है—'स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः'। स्वाध्याय के बल से अपने इष्टदेव की कृपा प्राप्त होने लगती है। उसकी बुद्धि शुद्ध हो जाती है। यह तो होता है कि जब शास्त्र तथा मन्त्र कण्ठस्थ हो जायें, कण्ठस्थ होते ही स्वप्न में जाग्रत में हर समय मन में उन्हीं की स्मृति घूमने लगती है और कोई विकार ही नहीं आता। एकाग्रता की स्थिति बन जाती है। ध्यानावस्था स्वतः हो जाती है। यही कर्म की कुशलता है कि काजल की कोठरी में रहकर भी कालिख न लगे। भगवान कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह
उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसु कौशलम्॥

बुद्धियोग के द्वारा तू अपने निज चेतन स्वरूप से जुड़कर कर्म करे तो वे ही कर्म योग साधना बन जायेंगे। बुद्धियोग में प्रवृत्त होने वाले को पूर्ण सिद्धि मिलती है और वह पाप-पुण्य के चक्कर से भी पृथक रहता है। बुद्धियोग के अभ्यासी कर्म करते हुए फल की इच्छा नहीं करते। जिसका परिणाम यह होता है कि वे अभाव, चिन्ता, भय, शोक से मुक्त रहते हैं तथा ब्रह्मानन्द के अविनाशी पद को प्राप्त कर लिया करते हैं। जब समाधि से बुद्धि एक

तक स्थिर हो जायगी तभी योग की वास्तविक स्थिति प्राप्त होगी। 'समाधावचला बुद्धिस्तदा-योगमवाप्स्यसि।' —गीता २/५३। समाधि लाभ जब तक नहीं होता तब तक सम्यक् विचार और सम्यक् चिन्तन का आश्रय लेना चाहिए। बौद्ध धर्म का विज्ञानवाद इसी बुद्धि-योग पर खड़ा हुआ है। शरीर के रोग प्रज्ञा-पराध के परिणामस्वरूप ही होते हैं। जो विरुद्ध गुणों की वस्तुओं जैसे खरबूजा तथा दूध या दूध-दही या मूली और दूध को एक साथ खा लेने से त्वचा और कुष्ठ होने की सम्भावना है। इसी तरह ऋतु के विपरीत आहार-विहार करने के परिणाम स्वरूप ज्वर, जुकाम, खांसी आदि रोग हो जाते हैं। जीवन की प्रत्येक क्रिया के लिए बुद्धि के सुयोग की आवश्यकता है। भगवान श्रीकृष्ण ने योग की पूर्ण सिद्धि का यह मार्ग बतलाया है:—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र
जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां
सन्न्यासेनाधिगच्छति॥
१८/४९

जिसकी बुद्धि विषयों से हटकर आत्म-विचार में संलग्न रहती है उसका अन्तःकरण इन्द्रियों की बाह्यवृत्तियों के अधीन नहीं होने देता। जिस प्रकार अग्नि को हवा दिया जाय तो उसका धुआँ चला जाता है उसी प्रकार बुद्धि के अधीन होने पर मन की इच्छा में शान्त रहता है। प्रारब्ध कर्म भी भोगने से जल्दी क्षीण हो जाते हैं। मैं-पने (अहंकार) का भाव न होने से नये कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती। गुरु-देव की कृपा से इस स्थिति में कर्तापन तथा क्रिया का भाव मिट जाता है। फिर भी कूट-स्थ स्थिति प्राप्त करने में उसी प्रकार समय चाहिये जिस प्रकार उत्तम बीज एवं उत्तम भूमि होने पर भी फल आने के लिए समय चाहिये। सर्वप्रथम गुरुदेव की कृपा होने पर साधक विशुद्ध बुद्धि से युक्त हो जाता है।१ फिर धैर्य को गोद में बैठाकर वैराग्य की बुद्धि होती है जिससे शब्दस्पर्श आदि विषय राग-द्वेष पैदा नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में एकान्त स्थान में रहकर हितमित आहार करे। आलस और निद्रा पर काबू पाकर शरीर मन और वाणी का नियमित करके ध्यानयोग

१—बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ १८/५१
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोग परो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १८/५३

का नमकर अनवरत अभ्यास करता रहे। मूलाधार से सहस्रार चक्र और उससे भी आगे श्रीहाट और त्रिकुट तक की चढ़ाई जब तक पूरी न हो जाय तब तक धैर्यपूर्वक बराबर ध्यान समाधि में लगा ही रहे। प्रत्येक भूमिका में वैराग्य को अपना साथी बनाकर रखें। ध्यानयोग के पथ में देहाभिमान का अहंकार जो मनुष्य को मरकर भी नहीं छोड़ता और पैदा होने पर जीने भी नहीं देता, उसे नष्ट कर तब वहीं काम, क्रोध तथा ममता की भावना आदि परिग्रह नष्ट कर दे। ऋद्धि-सिद्धियों के चमत्कार में न पड़कर ध्यानयोग के मार्ग पर चलते-चलते वह सभी प्राणियों में स्वयं को व्याप्त देखे। ऐसा होने पर सभी प्राणी उसे अपने ही निज स्वरूप दिखाई देते हैं। समुद्र में पहुँचकर जिस प्रकार नदियाँ शान्त हो जाती हैं उसी प्रकार आत्मा साक्षात्कार कर लेने पर योगी मान, अपमान, मोह, शोक, राग, द्वेष आदि दोषों से परे हो जाता है। फिर उसको जन्म-मरण का कष्ट नहीं भोगना पड़ता।

'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते'।

आओ मनुष्यता का हम जन्मदिन मनायें

—श्री भगवान सिंह भदौरिया 'सौमित्र' एम. ए. साहित्यरत्न

आओ मनुष्यता का हम जन्मदिन मनायें,
तज भेद-भाव, पावन, अन्तःकरण बनायें।।
घर-घर में प्यार बोवें, मन-मन के तार जोड़ें,
जीवन में शांति पायें, संजीवनी निचोड़ें।
जीवन की सौम्यता का उपवन सुमन खिलायें,
आओ मनुष्यता का हम जन्म-दिन मनायें।
क्या राम और लक्ष्मण केवल कहानियाँ हैं?
या जिन्दगी की उजली ज्योतित जालियाँ हैं?
जनगण की भव्यता से फिर बन्धुता जगायें,
आओ मनुष्यता का हम जन्म दिन मनायें।
इन्सान आज पागल, धूमिल सभी दिशायें,
हर ओर ध्वंस दानव, फैला रहा भुजायें।
फिर गगन-गान गाती उतरें किरण उषायें,
आओ मनुष्यता का हम जन्म दिन मनायें।

वर्ण-

श्री मानेगुरु

'वर्णाश्रम धर्म' हम कई बार सुनते हैं। वर्णाश्रम स्वराज्य संघ आदि भी कायम हो गये हैं। लेकिन वर्ण का अर्थ क्या है? आश्रम का अर्थ क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि इस पर अधिक गम्भीर विचार नहीं किया गया है। अतएव, इस प्रकरण में हम इस बात का संक्षिप्त विवेचन करेंगे कि वर्ण का अर्थ क्या है?

हमें ऐसा कहा जाता है कि अपने-अपने वर्ण के अनुसार हम सब को आचरण करना चाहिए। लेकिन वर्ण के अनुसार आचरण करने का अर्थ क्या है? इसका स्पष्टीकरण किया जाता है कि ब्राह्मण को ब्राह्मण-धर्म के अनुसार वैश्य को वैश्य धर्म के अनुसार और शूद्र-शूद्र के अनुसार आचरण करना चाहिए।

इस सारे मानने और कहने में एक बात मान ली जाती है कि माता-पिता के ही सारे गुण-धर्म बच्चों में आते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष संसार में इस प्रकार का अनुभव नहीं होता। यह बात नहीं है कि माता-पिता की अच्छा-बुराइयाँ बच्चों में आती ही है, माता-पिता से एकदम भिन्न प्रकार के बालक भी हमें दिखाई देते हैं। हिरण्यकशिपु के यहाँ प्रह्लाद पैदा हुआ।

लेकिन यदि माँ-बाप के गुण-धर्म बालक में न आवें तो भी बच्चे बचपन से ही अपने आस-पास जो बातें देखते हैं उनका प्रभाव उनके जीवन पर पड़े बिना नहीं रहता। उस वातावरण का उनके मन पर असर होगा। कीर्तनकार का बच्चा बचपन से ही घर पर कविता-व्याख्यान आदि सुनेगा। गवैये का बच्चा ताल, तम्बूरा, तबला, पेटी आदि के सम्पर्क में बड़ा होगा। सुनार का बच्चा छोटी कन्या, चांदी-सोने के गहने आदि से परिचित रहेगा ही। किसान के लड़के को हल, बक्खर, बीज, [illegible], खोदना, मेंड़, बाड़े आदि का ज्ञान रहता है। सिपाही का लड़का घोड़े पर बैठेगा, भाला चलायेगा, तलवार चलायेगा। बनिये का लड़का तराजू तौलेगा, चीजों का भाव बतायेगा, अच्छी पुड़िया बाँधकर देगा, आय-व्यय का हिसाब रखेगा। चित्रकार का लड़का रंगों में मस्त रहेगा। चर्मकार का लड़का चमड़े से खेलेगा। इस प्रकार जिन बालकों के आस-पास जो वातावरण होगा, उसके अनुसार ही वे बनेंगे।

क्या मनुष्य केवल परिस्थितियों का दास है? आसपास के वातावरण का असर अवश्य होता है, लेकिन यदि बच्चे में कुछ हुआ तभी तो परिणाम होगा। यदि बीज ही न हुए तो कितना ही पानी डालने से अंकुर थोड़े ही उगेंगे। पहले बीज होने चाहिए। जन्मतः हृदय के अन्दर कुछ न कुछ होना चाहिए।

प्राचीन काल से ही ऐसा माना गया है कि माता-पिता के ही गुण-धर्म बच्चों में आते हैं। ब्राह्मण के बच्चे माता-पिता का

चारों ही वर्णों के जीवन में आना सम्भव दिखाई देता है। लेकिन चूँकि उस समय के प्रयोग और संशोधन के अनुसार उस समय जो निश्चित कर लिया गया था वह आज भी मानना चाहिए यह बात नहीं है। आज कारण बढ़ गये हैं। आज अधिक शास्त्रीय दृष्टि से वर्ण-परीक्षा की जाती है।

यह सिद्धान्त त्रिकालाबाधित है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार आचरण करना चाहिए। हमने चार वर्णों की कल्पना की है। लेकिन यह कल्पना बहुत व्यापकता से की गयी है। ज्ञान की उपासना करने वाला ब्राह्मण वर्ण। लेकिन ज्ञान सैकड़ों प्रकार का है। वेद अनन्त हैं। समय के बहने के साथ ज्ञान भी बढ़ता जा रहा है। मनोविज्ञान, नीति शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र, सृष्टि शास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र, वातावरण शास्त्र, विद्युत्शास्त्र, संगीतशास्त्र, शरीरशास्त्र अन्य, शिल्पशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, अर्थ(?) शास्त्र, इस प्रकार सैकड़ों शास्त्र हैं। अतः ज्ञान की उपासना करना एक वर्ण हो गया। लेकिन वे एक वर्ण के सैकड़ों अंग हैं।

यही बात क्षत्रिय वर्ण की है। विमान-युद्ध, नाविक-युद्ध, जलयुद्ध, स्थलयुद्ध इस प्रकार सैकड़ों तरह के युद्ध हैं।

वैश्य वर्ण कृषि-गोरक्ष्य वाणिज्य का अर्थ है वैश्यवर्ण। लेकिन इसमें प्रत्येक के सैकड़ों भाग हैं। कोई अफीम पैदा करता है, तो कोई तम्बाकू बोता है। कोई कपास उगाता है, तो कोई मूंगफली बोता है, कोई अनार लगाता है, तो कोई अंगूर लगाता है, जिस प्रकार खेती के सैकड़ों प्रकार हैं, उसी प्रकार व्यापार के भी सैकड़ों प्रकार हैं। उसी प्रकार सैकड़ों हैं। यह कपास का व्यापारी है, यह अनाज का व्यापारी है, यह घी का व्यापारी है, यह तेल का व्यापारी है, यह मिल मालिक है, यह सोने का व्यापारी है। इस प्रकार वैश्यों के सैकड़ों प्रकार हैं।

हजार तरह के धन्धे होने के कारण हजारों जगह मजदूरी करने वाले शूद्र भी अनेक कामों में लगते हैं।

इन चार वर्णों में हजारों प्रकार समा जाते हैं। इन हजारों प्रकार प्रकारों में से कौन-सा काम अपने में ले? बच्चे को किस वर्ण के लिए ज्ञान की उपासना करनी चाहिए?

'वर्ण' शब्द का अर्थ है रंग। हम कहते हैं कि आकाश का वर्ण नीला है। मराठी में वर्ण शब्द से जाना जाता है। 'कुण नाही गण वाण लागला' नामक कहावत में वाण शब्द का अर्थ है रंग। मैं अमुक वर्ण का हूँ इसका यही मतलब है कि मैं अमुक रंग का हूँ।

ईश्वर ने हमें कौन-सा रंग देकर भेज

है ? कौन-से गुण-धर्म देकर मुझे भेजा है ? 'कुहू' बोलना कोकिल का जीवन-रंग है । मधुर सुगन्ध देना गुलाब का जीवन-धर्म है । हम में से कौन-सा रंग, कौन-सी गन्ध बाहर निकलेगी ? हमें किस रंग का विकास करना है ?

× × × × ×

बच्चों के गुण-धर्म की परीक्षा किये बिना यह कैसे मालूम होगा ? इस बात की बारीकी से खोज की जानी चाहिए कि बालक कौन-सा रंग लेकर पैदा हुआ है । स्मृति में कहा गया है कि जन्मतः हम सब एक ही वर्ण के होते हैं । पहले हमारा कोई वर्ण नहीं होता है । वर्ण नहीं होता, इसका क्या मतलब ? वर्ण होता है, लेकिन वह अप्रकट होता है, अस्पष्ट होता है । आठ वर्ष की आयु तक हम वर्णहीन होते हैं । फिर वर्ण समझने लगे कि उपनयन करना चाहिए । यह एक प्रश्न ही है कि जब तक वर्ण नहीं मालूम हो, तब तक उपनयन कैसे किया जाय ?

× × × × ×

जब बालक आठ-दस वर्ष का होता है तब हमें उसके गुण-धर्म मालूम होने लगते हैं । किसी में पढ़ने का शौक दिखाई देता है, कोई गाने गाता रहता है । कोई बजाता रहता है । कोई चीजें सुधारा करता है । कोई बगीचे में सेवा करता है, कोई मूर्ति बनाता है । कोई पक्षियों को पींजरे में पालता है । इस प्रकार बच्चों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं । बच्चों के भिन्न-भिन्न गुण-धर्म दिखाई देते हैं ।

स्वतन्त्र देशों में शिक्षा में किस प्रकार के प्रयोग होते हैं । बच्चों के वर्ण की खोज करने का प्रयत्न किया जाता है । बैठक-खाने में अनेकों वस्तुएँ रखते हैं । वहाँ रंग होते हैं, बाजे होते हैं, गन्ध होते हैं, पुस्तकें होती हैं, बाहर बगीचे होते हैं, फूल होते हैं, अनाज बोया हुआ होता है, तितलियाँ होती हैं । शिक्षक यह देखते हैं कि बच्चे का मन किस बात में लगता है । इन बालक-बालिकाओं को वहाँ छोड़ दिया जाना चाहिए और यह नोट करना चाहिए कि खुश-मिजाज और मग्न होकर वे कहाँ ज्यादा देर तक रहते हैं । बहुत दिनों के निरीक्षण के बाद जाकर कहीं शिक्षक को रुचि-अरुचि का पता लगता है । फिर वह शिक्षक बालक के अभिभावक को बताता है कि ऐसा लगता है कि तुम्हारा बच्चा चित्रकार बनेगा, तुम्हारा बच्चा उत्कृष्ट माली बनेगा, तुम्हारे बालक की बुद्धि यन्त्रों को सुधारने में रमती हुई प्रतीत होती है । बच्चे के गुण-धर्म मालूम होने के बाद जहाँ उन उन गुणों का विकास हो वहाँ उसे भेजना बालक के अभिभावक एवं शिक्षा-विभाग का कर्तव्य हो जाता है ।

उपनयन का अर्थ है गुरु के पास ले जाना। ऐसे गुरु के पास ले जाना चाहिए जो बालक में विशेष गुणों का विकास कर सके। जिस बालक की रुचि संगीत में हो उसे गणित सिखाने-वाले शिक्षक के पास ले जाने से क्या लाभ? वह तो बालक की संगीत की रुचि समाप्त कर देगा। बाल-कोकिल का गला सदा विकृत पड़ जायगा। यह बात मानो बालक की हत्या करने जैसी ही होगी।

जिस राष्ट्र में, जिस शासन-पद्धति में व्यक्ति के वर्ण की वास्तविक खोज होती है और उसके वर्ण के विकास के लिए पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है और इस वर्ण-विकास के मार्ग की सारी कठिनाइयां दूर की जाती हैं वह राष्ट्र महान बनता है। वही तो राज्य पद्धति आदर्श समझी जानी चाहिए।

लेकिन यह बिना स्वराज्य के कैसे सम्भव होगा? इसके लिए ही स्वराज्य की आवश्यकता है। व्यक्ति के विकास के लिए स्वराज्य की जरूरत है। स्वराज्य की इसलिए आवश्यकता है कि उसके द्वारा व्यक्ति की ईश्वर प्रदत्त देन विकास करती है। जब तक स्वराज्य नहीं मिलता तब तक वर्ण नाम मात्र के लिए रहेगा। लेकिन व्यक्ति के गुणधर्म का वास्तविक परीक्षण और निरीक्षण न हो सकेगा तो विकास के मार्ग के रोड़े दूर नहीं होंगे।

आजकल स्कूल में शिक्षक क्या अनुभव करते हैं? आज भिन्न-भिन्न गुण-धर्म वाले बालकों की वहां हत्या हो रही है। सब को हमेशा एक ही शिक्षा दी जाती है। स्व-वर्ण विकास के लिए कोई अवसर नहीं है, दरिद्रता के कारण आज कोई भी बालक अपनी रुचि की शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाता। हमारा वर्णाभिमानी राष्ट्र पहले स्वराज्य के लिए अपना सर्वस्व देने को तैयार रहेगा।

कोई धनी व्यक्ति हो अपने वर्ण के अनुसार आचरण कर सकता है। लेकिन क्या यह सब लोगों के लिए सम्भव है? लोकमान्य तिलक का कौन सा वर्ण था? तत्त्वज्ञान में मग्न रहना, गणित शास्त्र में डूबे रहना, यही उनकी आत्मा का धर्म था। शायद उनके लिए उस गुण धर्म का विकास करना सम्भव था। लेकिन उन्होंने देखा कि लाखों लोगों के लिए अपने गुण-धर्म का विकास करना इस वर्तमान परतन्त्रता में सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने कहा—आओ, सब के विकास के लिए मार्ग में रुकावट डालने वाली परतन्त्रता को सब से पहले नष्ट कर दें। लोकमान्य स्वराज्य के लिए लड़े। राष्ट्र का वर्ण-विकास ठीक प्रकार हो। राष्ट्र में, आज नहीं तो कल, कभी भी सच्चे वर्ण-धर्म की स्थापना हो, इसी के लिए वह निरन्तर परिश्रम करते रहे।

महात्मा गांधी ने भी एकबार ऐसा कहा था। महात्मा जी समाज सुधारक वृत्ति के थे,

परन्तु राष्ट्र के विकास में परतन्त्रता को एक बहुत बड़ी रुकावट अनुभव करके वह उसे दूर करने के लिए उठे। इतिहासाचार्य राजवाड़े दुःख और सन्ताप से कहते थे। "कदम-कदम पर स्वराज्य की याद आती है।" यदि स्वराज्य प्राप्त हो गया हो तो राजवाड़े कितना आम अन्त विचार कर लेते इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'

गीता का यह चरण बारम्बार कहा जाता है। इस चरण में धर्म का अर्थ हिन्दू-धर्म, मुसलमान-धर्म नहीं है। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ है वर्ण। अर्जुन भी मुनि क्षात्र थे। उत्तर गोपग्रह तक हजारों शत्रुओं के सिर गेंद की तरह उछालने में उसे आनन्द मिलता था। जन्म से ही उसके हाड़-मांस में रमी हुई यह क्षात्र-वृत्ति अर्जुन मोह के कारण छोड़ना चाहता था। वह संन्यास की बातें करने लगा। कहता था भिक्षा माँगकर जीवित रह लूँगा। लेकिन क्या उसका वह श्मशान-वैराग्य टिक सकता था। वह जङ्गल में जाता और वहाँ हिरण, पक्षी आदि मारकर उनका मांस बड़े शौक से खाता। इससे तो उसकी फजीहत और हो जाती। वृत्ति से, वैराग्य से, चिन्तन से सच्चा वैराग्य प्राप्त न करने के कारण केवल आवेश से संन्यासी हो जाने से दम्भ पैदा होता।

जो वृत्ति अभी अपनी अवस्था को नहीं हुई है उसे एकदम अङ्गीकार कर लेना भयावह ही है। अश्रद्धालु नास्तिक होते हुए संन्यासी हो जाना समाज का और अपना अधःपतन ही है। जिसके मन में जिसके प्रति आस्था नहीं है, यदि वह रहस्य में पढ़ाता है जोकि उसको सन्तोष होता हो है, राष्ट्र की भावी पीढ़ी को भी अपार हानि होती है। भले ही समाज में हमारा वर्ण यदि छोटा समझा जाता है तब भी उस वर्ण के अनुरूप समाज सेवा करते रहने से ही विकास होता है। पानी की अपेक्षा दूध कीमती है, पर मछली पानी में ही जीती है दूध में तो वह जीवित भी नहीं रहेगी।

'मछली का जीवन ही पानी,
पय उसे न जीवित रख सकता।'

प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिए। इसका यही अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार आचरण करना चाहिए, अपने धर्म गुणधर्म के अनुसार आचरण करना चाहिए।

संस्कृत में न्यायशास्त्र में धर्म शब्द की व्याख्या एक विशिष्ट अर्थ में की जाती है। जिसके बिना कोई पदार्थ रह ही नहीं सकता वही धर्म है। उदाहरणार्थ जलाना अग्नि का धर्म है। बिना दाहकता के अग्नि नहीं रह सकती। बिना शीतलता के पानी नहीं रह

सकता। बिना प्रकाश के सूर्य का कोई मूल्य नहीं। यदि हम सूर्य से कहें कि 'तपो मत' तो वह कहेगा 'मेरे न तपने का अर्थ होगा मेरी मृत्यु।' यदि हम वायु से कहें कि 'तुम बहो मत' तो वह कहेगी, यदि मैं न बहूँ तो क्या करूँ? बहते रहना ही मेरा जीवन है। यह है धर्म शब्द का अर्थ।

हम जिसके बिना जीवित नहीं रह सकते और जिसके लिए जीने और मरने की भावना पैदा होती है वही हमारा धर्म है। किसान से कहिये कि—'जमीन मत जोतो, खाद और मत पानी, बीज मत डालो।' तो वह तड़पता जायगा। शिक्षक को कई महीने की छुट्टी से घबराहट होती है। शिक्षा प्रदान करना ही उसका परमानन्द होता है। वैश्य से कहिये कि—'दुकान पर मत बैठ, माल की पूछताछ मत कर।' तो इसी जीवन में उसका कोई विकास अनुभव न होगी। अपना प्रिय सेवा कार्य ही मानो हमारा प्राण होता है उसके लिए ही जीने और उसी के लिए ही मरने की प्रेरणा होती है।

इस प्रकार हमारा जो सेवा-धर्म हो उसके लिए ही हमें सब-कुछ करना चाहिए। उस कर्म का, उस रत्न का हमें रात-दिन प्रयत्न करके विकास करना चाहिए और मरने पर भगवान के पास जाकर कहना चाहिए :—

भगवन! आपने ही यह पूँजी मुझे दी थी। मैंने उसे इतना बढ़ाया है, उस पूँजी को बढ़ाकर मैंने समाज को सुखी किया। मैंने समाज-पुरुष की सेवा की' तो भगवान को सन्तोष होगा और वह तुम्हें गले लगा लेगा।

दीर्घ आयु और खेचरी मुद्रा का महत्त्व

कहते हैं श्री महाप्रभुजी कुछ काल को एकान्तवास के उद्देश्य से उत्तराखण्ड चले गये थे, वहां जाकर छोटे आश्रम के समीप में ठहरे। भाई रत्नलाल जी और मैं भी प्रभुजी के आदेशानुसार योग-साधन-आश्रम ऋषिकेश में ही रहकर नियमित अभ्यास किया करते थे। यद्यपि श्री प्रभुजी के सान्निध्य में ही मेरा खेचरी-मुद्रा का अभ्यास काफी बढ़ गया था, खेचरी-मुद्रा हठयोग की एक कठिन क्रिया है। इसमें छेदन-काल में कुछ कष्ट भी होता है। तब मैं ध्यानाभ्यास में इतनी देर नहीं बैठ पाता था जितना कि भाई रत्नलाल जी बैठ जाया करते थे। फिर भी थोड़ी बहुत नियमित दिनचर्या चलती ही थी। एक दिन अभ्यास में बैठे पर मुझे खेचरी मुद्रा के विलक्षण लाभों का अनुभव हुआ एवं खेचरी-सिद्धि कर लेने वाले सिद्धों के दर्शन भी हुए। वे सभी सिद्ध-गण आकाश-गमन करते हुए दीखते थे, उनका स्वरूप बड़ा ही दिव्य एवं तेजस्वी था। उनमें से कुछ सिद्ध जल की सतह पर इस प्रकार चल रहे थे, मानो उनके चरणों का स्पर्श जल से हो ही न रहा हो। वह सभी महापुरुष चिरञ्जीवी प्रतीत होते थे, क्योंकि उनके शरीर हजारों वर्ष पूर्व के प्रतीत होते थे। इन सिद्धजनों के दर्शन करते-करते आकाशवाणी के समान मुझे एक आवाज सुनाई दी 'देखो यह सब महापुरुष खेचर पुरुष हैं अर्थात् खेचरी-मुद्रा की सिद्धि के प्रभाव से सिद्ध हो गये हैं।' —शाह योगी जी

विचार और आचार

विचार आचार का प्रथम रूप है। मनुष्य जैसे विचारों को अपने मन में स्थान देगा, जैसे विचारों के वातावरण में रहेगा, कालान्तर में वे ही विचार आचार का रूप धारण कर उसे वैसा ही बना देंगे। विचारों का जीवन पर अमिट और गहरा प्रभाव पड़ता है। विचार बिना पके हुए घड़े के समान है, और आचार आवे में पक कर तैयार हुआ पक्का घड़ा। अतः कुम्हार अपने घड़े का जैसा निर्माण करेगा, उस पर जैसी चित्रकारी तथा जिस डिजाइन का बनायेगा—पका हुआ घड़ा उसी डिजाइन और वैसा ही चित्रकारी से चित्रित बन कर निकलेगा। और वह पक कर स्थायीत्व को धारण कर लेगा। इसलिए अपने आचार को उच्च तथा महान बनाए रखने के लिए अपने विचारों और भावनाओं को सदा उत्तम और महान बनाए रखना अत्यावश्यक है। निकृष्ट भावनाओं और विचारों को अपने मन में कभी स्थान भी नहीं देना चाहिए। "क्रतुमयो अयं पुरुषः" अर्थात् मनुष्य अपने संकल्पों का आप स्वामी है।

याद रखो! जैसे तुम अपने मन में संकल्प करोगे, जैसे विचारों की अपने अन्दर जगत में सृष्टि करोगे एक दिन तुम वैसे ही बन जाओगे।

अर्थात् मनुष्य की सम्पूर्ण चेष्टाएं संकल्प मूलक हैं। यज्ञ आदि निष्काम कर्म भी संकल्पों के द्वारा ही होता है। इस लिए अपने संकल्पों को सदा शिवसंकल्प बनाए रखो। "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु" कभी अपने संकल्पों में क्षुद्रता और मलीनता मत आने दो। शिव-संकल्पों द्वारा शरीर स्वस्थ, बलवान और नीरोग बनता है। आयु की वृद्धि होती है। शरीर में जीवन शक्ति का संचार होता है और तुम्हारे अन्तर्मन पर उत्तम प्रभाव, पवित्र संस्कार और महत्वाकांक्षाएं जागृत होती हैं, जिससे तुम जैसा चाहो, यशस्वी और महान बन सकते हो।

विचारों को पावन बनाने के लिए सत्संग और श्रेष्ठ पुरुषों के रचे हुए ग्रन्थों का नियमित स्वाध्याय करना अपने दैनिक कार्यक्रम का अङ्ग बना लेना चाहिए। जहाँ तक हो सभी प्रकार अपने को कुसंग से बचाकर रखना चाहिए।

नाम का प्रभाव

श्री डा० केशवराम शर्मा, साहित्याचार्य

छोटे-बड़े पाषाण
शिला-खण्ड पूर्ण शिखर
उनका समुच्चय भी पर्वत खण्ड दीर्घकाय
ला रहे हैं कपि-भालु
अंगद, हनुमान, नल, गवाक्ष, जाम्बवान्,
पनस, शरभ, मैन्द, दधिमुख, केसरी,
द्विविद, सुषेण, शठ, विकट, अतिकाय, गद,
गन्धमादन से वीर बहु सेवा में प्रस्तुत हैं।
राम-राम लिख रहे आतुर हो नल-नील
और दे रहे हैं उन्हें आकार सेतु का।
प्रभु राम कमल वपु श्यामल घन,
दीर्घबाहु, वृषभस्कन्ध,
पीन वक्ष, कम्बुग्रीव,
चारु चिबुक, मन्दस्मिताधर,
कपोल पीन, चारु उन्नत नासिकाग्र,
त्रिभुवन की सुषमा का सार लिए,
नेत्र विशाल कञ्ज नव,
देख रहे शान्त प्रभु,
कर्मठता, तत्परता, उत्सुकता वीरों की।
स्वामि-संग लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव भी
देख-देख सेतुबन्ध हर्ष में विभोर हैं।
जाम्बवान् बोले—"प्रभो! महिमा अपार तव
दर्शन अमोघ अशरणशरण दयानिधे!
भवभयहारी नाथ! जग के नियन्ता हैं,
प्रभुता झलकती है सेतुनिर्माण में,
नाममात्र धारण से तैर रहे पाषाण

राक्षस मरेंगे सभी भृकुटि-विलास से ही
दुर्बुद्धि रावण का निश्चित विनाश है।"
स्मिति बिखराते मन्जु अधरों से बोले प्रभु—
"आओ हनुमान्! कुछ हम भी पटायें हाथ,
पाषाण लाओ कुछ हम भी तैरायें उन्हें,
कुछ तो सहारा मिले नल और नील को।"
जाम्बवान् बोले—
"नाथ! कष्ट क्यों करेंगे आप
अनुचर अनेक यहाँ सेवा को प्रस्तुत हैं।
नाम के प्रभाव से ही तैर रहे पाषाण
श्रम क्यों करेंगे आप कष्ट कर कोमल से।"
प्रभु के संकेत पर
ला चुके थे हनुमान्
प्रस्तर खण्ड छोटा-सा
इठलाता भाग्य पर।
कुछ ही क्षणों के लिए चमका कर हाथों में
सुलभ थी जिसे दृष्टि दुर्लभ जो मुनियों को।
सेतुखण्ड पार्श्व में सागर के तल पर
छोड़ा प्रभु ने उसे जैसे ही धीरे-से,
लील गई ऊर्मियाँ प्रभु का प्रसाद मान
डूबता था पाषाण अतल-वितल में।
स्तब्ध भालु-कपि,
चकित थे जाम्बवान्,
अपलक निहार रहे विस्फारित दृगों से सभी
पाषाण डूब गया प्रभु के भी हाथों से।
स्तम्भित-अवाक् सभी नेत्र घूमे राम ओर
प्रभु शान्त भाव-से देख हनुमान् ओर

सब की विफलता पर मन्द मुस्करा रहे।
निर्विकार भाव देख भानु-कपि स्वामी का
विस्मित उदास हुए पूछे हनुमान वीर।
कुशल कपि ताड़ गये व्याकुलता भक्तों की
बोले विनीतभाव—
'प्रभो ! खेल करते हो,
अज्ञान हरते हो भक्तों का कृपालु देव
आप हर लीला हमारे लिए शिक्षा है।
डूब गया प्रस्तर खण्ड
यह तो नई बात नहीं,
डूबे नहीं तो क्या तरेगा अभागा वह
जिसे भक्त-वत्सल कृपालु राम छोड़ेंगे।"
अज्ञान दूर हुआ गूँजा एक स्वर वहीं—
"धन्य राम, धन्य नाम
धन्य प्रभु लीलाधाम,
धन्य-धन्य हे अकाम !
नाम का प्रभाव,
प्रभु राम से अपार है।"

00

❀ दो मुक्तक ❀

आदमी बन, जो धरा का भार कन्धों पर उठाये,
बाँट दे जग को, न प्रसून बूँद अधरों से लगाये।
है जरूरत आज ऐसे, आदमी की सृष्टि को फिर-
विश्व का विष सिन्धु पी जाये, मगर हिचकी न आये॥

× × × ×

आत्म - रक्षा - यत्न, ऐसा हो रहा है,
आदमी फौलाद, ओढ़े सो रहा है।
शान्ति का स्वागत करेगी, भूमि पर बारूद बिखरी-
युद्ध-आँधी का भविष्यता, हो रहा है॥

भोजपुरा, (मैनपुरी)। — श्री 'दीक्षित'

❀ प्राणायाम एवं उसके भेद ❀

✻ श्री पूर्णचन्द्र शर्मा शास्त्री

हमारे योगाचार्य महानुभावों ने अपने ग्रन्थों में प्राणायाम की महिमा मुक्त कण्ठ से गायी है। भगवान मनु तथा याज्ञवल्क्य जी महाराज ने अपनी स्मृतियों में प्राणायाम को सबसे बड़ा तप बताया है। योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने गीता में—

'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे'

कहकर प्राणायाम को अपनी प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन बतलाया है। उपनिषदों में सर्वत्र ही प्राणायाम का विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। योगकुण्डलिनी-उपनिषद में कहा गया है :—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य
वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्टे एकस्मिन
द्वावपि प्रविनश्यतः।
तयोरादौ समीरस्य
जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं
शक्तिचालस्तृतीयकः॥

अर्थात् चित्त की अस्थिरता के कारण होते हैं एक वासना और दूसरा प्राण। इनमें से एक के नष्ट हो जाने पर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। इसलिए साधक को इन दोनों में से पहले प्राण को वश करना चाहिए। अर्थात् प्राणायाम के अभ्यासी साधक को मिताहारी होते हुए किसी एक आसन को सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्राणायाम के तीन अङ्ग हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक। याज्ञवल्क्य स्मृति में इन तीनों अङ्गों को प्राणायाम की तीन मात्राएँ बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अकार, उकार और मकार (अ+उ+म) इन तीन मात्राओं से प्रणव (ओम्) बनता है उसी प्रकार रेचक पूरक और कुम्भक मिलकर प्राणायाम है। अतः प्राणायाम प्रणव स्वरूप ही है।

योग कुण्डलिनी उपनिषद में चार प्रकार के प्राणायामों का वर्णन किया गया है और उनके नाम हैं :—

सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका।

सूर्यभेदन प्राणायाम की विधि:—

पवित्रे निर्जने देशे
शर्करादि विवर्जिते।
धनुः प्रमाणपर्यन्ते
शीताग्नि जल वर्जिते॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे

आसने सुखदे शुभे।
बद्धपद्मासनं कृत्वा
सरस्वत्यास्तु चालनम्॥
दक्षनाड्या समाकृष्य
बहिःस्थं पवनं शनैः
यथेष्टं पूरयेद्वायुं
रेचयेदिडया ततः॥
कपाल शोधने वाऽपि
रेचयेत्पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु
कृमिदोषं निहन्ति च।
पुनःपुनरिदं कार्यं
सूर्यभेदमुदाहृतम्॥

एकान्त और पवित्र स्थान में जहाँ कंकड़-पत्थर आदि न हों और आस-पास अग्नि तथा जल आदि न हों वहाँ न अधिक ऊँचा और न नीचा सुखदायक पवित्र आसन पर बद्धपद्मासन लगाकर बैठे और सरस्वती का चालन करे। सरस्वती चालन की विधि यह है—

साधक अपनी दाहिनी नासिका से बाहर की वायु को धीरे-धीरे अन्दर की ओर खींचे और पर्याप्त मात्रा में वायु के भीतर प्रवेश कर जाने पर बांयी नासिका से उसे धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। कपाल शोधन की क्रिया में भी वायु को इसी प्रकार रेचन करे। इस क्रिया को सूर्यभेदन कहते हैं। इसका अभ्यास बार-बार करते रहना चाहिए। इससे चारों प्रकार के वातदोष और कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं।

उज्जायी प्राणायामः—

मुखं संयम्य नाडीभ्या-
माकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कंठात्तु
हृदयावधि सस्वनं॥
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं
रेचयेदिडया ततः।
शीर्षोदिता नलहरगल
श्लेष्महरः परम्॥
सर्वरोगहरं पुण्यं
देहानल विवर्धनम्।
नाडी जलोदर धातुगत
दोष विनाशनम्॥
गच्छतः तिष्ठतः
कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्॥

मुख बन्द करके दोनों नासाछिद्रों से वायु को धीरे से खींचे, जिससे वह शब्द करती हुई कण्ठ से लेकर हृदय तक भर जाय। फिर पहले की भाँति कुम्भक करके बांयीं नासिका से उसे बाहर निकाल दें। इस क्रिया से मस्तक की गर्मी, गले का कफ तथा अन्य अनेक प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं और शरीर की अग्नि बढ़ जाती है। इससे नाड़ी सम्बन्धी जलोदर और धातु

सम्बन्धी रोग भी दूर होते हैं। इस उज्जायी नामक कुम्भक को चलते-फिरते, खड़े रहते हर वक्त में करते रहना चाहिए।

शीतली प्राणायाम—

जिह्वया वायुमाकृष्य
पूर्ववत्कुम्भकादनु।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां
रेचयेदनिलं सुधीः।
गुल्मप्लीहादिका दोषा
क्षयं, पित्तं, ज्वरं तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम
कुम्भकोऽयं निहन्ति च॥

इस प्राणायाम में साधक जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर अर्थात् जिह्वा को कौवे की चोंच की तरह गोल करके उससे वायु को भीतर को खींचे और ठहरकर नासिका के दोनों छिद्रों से शनैः शनैः उसे बाहर निकाल दे। इस शीतली नामक कुम्भक से गुल्म, प्लीहा, क्षय, पित्त, ज्वर और तृषा आदि रोग दूर हो जाते हैं तथा हर प्रकार के दोषों को यह प्राणायाम समूल नष्ट कर देता है।

भस्त्रिका प्राणायाम :—

ततः पद्मासने बद्ध्वा
समग्रीवोदरः सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन
प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥
यथा लगति कंठात्
कपाले सस्वनं ततः।
वेगेन पूरयेत्किञ्चिद्
हृत्पद्मावधि मारुतम्॥
पुनर्विरेचयेत्तद्-
वत्पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकाराणां
भस्त्रावेगेन चाल्यते॥
तथैव स्वशरीरस्थं
चालयेत्पवनं शनैः।
यथा श्रमो भवेद्देहे
तथा सूर्येण पूरयेत्॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं
पवनेन तथा लघु।
धारयेन्नासिका मध्यं
तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥
कण्ठोत्थितानल हरं
शरीराग्नि विवर्धनम्।
कुण्डली बोधकं पुण्यं
पापघ्नं सुखदं शुभम्॥
ब्रह्मनाडी मुखान्तस्थ
कफादि मलनाशकम्।
गुणत्रयसमुद्भूत
ग्रन्थित्रयविभेदकम्॥
विशेषेण कर्तव्यं
भस्त्राख्यं कुम्भकन्त्विदम्॥

भस्त्रिका प्राणायाम के अभ्यासी बुद्धिमानों को चाहिए कि वह पद्मासन लगाकर बैठ जाय। गर्दन, सिर तथा धड़भाग को एक सीध में सीधा रखे और मुख को बन्द करके वायु को वायुवेग पूर्वक नासिका से रेचन करे (बाहर निकाले) फिर वायु को शब्द करते हुए वेगपूर्वक अन्दर को इस प्रकार खींचे कि वह कण्ठ, कपाल, तालु और हृदय तक पहुँच जाय। फिर उसे बाहर निकालकर पूर्वोक्त वायु को अन्दर खींचे। इस प्रकार वायु को वेगपूर्वक बार-बार इस प्रकार खींचता जाय जैसे कि लोहार की धौंकनी चलती है। जब थकावट मालूम पड़े तो वायु को सूर्य नाड़ी से (दाहिने नासाछिद्र से) खींचकर भरे और उसे पेट तक अन्दर भर दे। फिर अंगूठे के अतिरिक्त शेष सारी उँगलियों से नासिका को मध्य से दृढ़तापूर्वक पकड़कर कुम्भक करे, अर्थात् वायु को अन्दर रोके और फिर बायीं नाक से रेचक कर दे। यह प्राणायाम कण्ठ की जलन को मिटाता है और शरीर की अग्नि को बढ़ाता है। यह कुण्डलिनी को जगाने वाला, पुण्यकारी, पापनाशक, सुखदायी और शुभकारी है। यह सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों से उत्पन्न तीन ग्रन्थियों का भेदन करने वाला है। इसलिए इस भस्त्रिका नामक प्राणायाम का विशेषरूप से अभ्यास करना चाहिए। ✿

❀ व्रतों का पालन करें ❀

व्रत ले चुकने के बाद उसके पालन का प्रयत्न काया, वाचा और मन से मृत्यु तक करते रहना चाहिए। ईश्वर ने हमको जितने भी साधन दिये हैं उन सबका व्रतों के पालन में उपयोग करना चाहिए।

कुछ लोग उत्साह में आकर व्रत तो लेते हैं लेकिन जब वह दिशा भी बदल जाती है, तब उनके अंदर उत्साह नहीं रह जाता। फिर भी चूँकि व्रत लिया है, इसलिए ऊपर-ऊपर से उसका पालन करते हैं। मन का सहयोग उसमें नहीं रहता। कुछ लोग यह भी कहने लगते हैं कि मन से तो व्रत का पालन कर ही रहे हैं तब बाहर से पालन करने की आवश्यकता क्या है? लेकिन एक बार व्रत ले लिया तो फिर उसके पालन में ढिलाई होनी ही नहीं चाहिए। जब तक शरीर है, तब तक वह छूटना नहीं चाहिए।

इस प्रकार व्रत पालन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होना, उसके लिए सदा सतत निरन्तर प्रयत्न करते रहना ही व्रत की सार्थकता है।

ॐ मन की तरंग ॐ

— श्रीमती सविता भारद्वाज एम. ए. बी. एड. सांख्ययोगाचार्य

मन की एकाग्रता के लिए ही यम-नियम आसन प्राणायाम तथा मन्त्र जप आदि क्रियायें एवं साधनायें कही गई हैं। मन समुद्र की तरंगों की तरह कामनाओं को जन्म देता रहता है। इच्छायें जन्म-मरण का कारण बन-कर प्राणी को चौरासी के चक्कर में डालती है। शरीर को अग्नि जलाकर राख कर देता है किन्तु मन की वासनायें अग्नि से भी नष्ट नहीं होतीं। ज्ञान और सत्संग द्वारा मन की चञ्चलता कुछ देर तो शान्त होती है। प्राणा-याम तथा उन्मनी समाधि से मन मार दिया जाय तो भी विषयों के उपस्थित होने पर भस्मभूत की तरह फिर जीवित हो उठता है। जैसे औषधि सेवन करने के साथ-साथ पथ्य रखना अनिवार्य होता है, अन्यथा दवा से लाभ नहीं हो पाता, उसी प्रकार अभ्यास के साथ-साथ पथ्य रूपी वैराग्य—निर्लोभता, अपरिग्रह, मौन का पालन करना आवश्यक है जहाँ मीठा रस होता है वहां चीटियाँ और मक्खियां इकट्ठी हो जाती हैं। इसी प्रकार जहां विषय रस या भक्तिरस होता है वहां मन टिकने लगता है। उसी समय मन को पकड़ कर उस पर काबू कर लेने पर मन ध्यान समाधि की ओर चलकर बड़ी-बड़ी शक्तियाँ प्रदान कर देता है।

जैसे अंकुर या तो खेत में सुरक्षित बना रह सकता है या कालोनियों में, उसी प्रकार मन माया मोह में या शब्द ब्रह्म में लगकर रह जाता है। जब मन माया-मोह में फँस जाता है तो उसकी गति गन्दगी पर बैठने वाली मक्खी की सी होती है। जब मन शब्द ब्रह्म में तल्लीन होता है तब वह मधुमक्खी की तरह बन जाता है। नाम जप में यदि मन को आनन्द आने लग जाय तो उसकी इधर-उधर भागने की वृत्ति बन्द हो जाती है। केवल ज्ञान से मन की तरंगें शान्त नहीं होतीं। जैसे मिश्री की डेली में बांस की फांस कुछ समय साथ रहने पर भी मिठास ग्रहण नहीं कर पाती, जैसे हीरे मोतियों की माला के लिए धागा होता है वह रत्नों की आभा को धारण नहीं कर पाता उसी प्रकार केवल शास्त्र ज्ञान से मन की उथल-पुथल शान्त नहीं होती। नित्य निरन्तर अभ्यास करने से वृत्ति एक लक्ष्य पर स्थिर होने लगती है। जैसे सोते समय मन से नाना प्रकार के स्वप्न देखते हैं, ऐसे ही मन से ही प्रभु नाम का जप, ओ३म

मगन होने पहले पर मन की बाहरी दौड़ बन्द हो जाती है।

जैसे कोई तिनका आँधी के चक्रवात में पड़कर उससे निकल नहीं पाता, उसी में घूमता रहता है, उसी प्रकार मन जब प्रभु के नाम और रूप के चक्कर में घिर जाता है तो उसकी इधर-उधर की भाग दौड़ बन्द हो जाती है। प्रभु के पावन नाम तथा दिव्य रूप की धारणा एवं ध्यान द्वारा साधक जब हृदयंगम कर लेता है तो मन उस बीज की तरह हो जाता है जो अग्नि में भुन जाने के बाद पृथ्वी में डाला गया हो। ऐसा बीज कभी उग सकेगा। इसी प्रकार जो स्वातिबूँद सीप में प्रवेश कर जाती है वह बाहर के वश में या आकाश में वापिस कैसे जा सकती है। यह मन रूपी भ्रमर प्रभु के दिव्य गुणों में आसक्त होकर निश्चेष्ट बन जाता है। जिस प्रकार भ्रमर कमल तथा केतकी के फूलों की गन्ध से आकृष्ट होकर और पुष्पों की ओर नहीं जाता, उसी प्रकार जब मन को प्रभु-नाम के रस का स्वाद मिलने लगता है तो वह वृक्ष की शाखा के फलों के पीछे नहीं दौड़ता। कहा जाता है कि लोहे की सुई— अमलबेत में कुछ देर रखा दी जाय तो वह गल जाती है, फिर उससे सिलाई का काम नहीं होता। इसी प्रकार प्रभु के पावन नाम में मन लगा दिया जाय तो वह भी सुई की तरह गल जाता है, नाम में ही समाया जाता है। मन शान्त निस्तब्ध उदधि की तरह भक्ति का सागर बन जाता है। फिर सांसारिक विषय सुखों तथा देहासक्ति के पीछे मन मतवाला नहीं बनता। संत रज्जब मनावस्था को प्राप्त मन की स्थिति का वर्णन करते हैं कि ऐसा मन धरती पर पड़े हुए मुर्दे के समान निश्चेष्ट होता है। कोई उसकी पूजा करे या उसमें अग्नि लगावे, वह किसी से प्रभावित नहीं होता।

यूँ मन मृतक ह्वै रहै,
तो मारे नाहीं।
माया में न्यारा रहै,
जिव जगपति मांही॥
ज्यों मुरदा धरती पड़्या,
बरसंति बहु पानी।
औरों को चांवरी भई,
उन तहूँ न जानी॥१॥
निष्कामी न्यारा रहै,
प्रतिमा परि तेले।
बरतंनि बरतें विगत सौं,
दूर आपा मेले॥२॥
बाजीगर की पूतली,
बाजीगर हाथे।
रज्जब राखे त्यों रहै,
नहि अवगुण साथे॥३॥

'योग महोत्सव ऋषिकेश'

का

उपयोगी विवरण

प्रेषक— श्री रामगोपाल सोनी, झांसी

उत्तराखण्ड हिमालय गंगोत्री से आगे हिमखण्डों से आच्छादित समुद्र तट से हजारों फीट ऊँचाई पर स्वर्ग के आकार गौमुख से कल-कल निनाद करती, लहरों से अठखेलियाँ खेलती परम पुनीत भागीरथी-गङ्गा अपना शीतल निर्मल जल अबाधगति से ऋषि-मुनियों की साधना स्थली ऋषिकेश से प्रवाहित कर रही है। ऐसे पुण्य स्थल गङ्गा तट के समीप 'योग साधन आश्रम' रेलवे स्टेशन रोड ऋषिकेश में स्थित है। ऐसे स्थान पर पहुँच कर मनुष्य अपने को धन्य मानते हैं। इसी आश्रम में विगत वर्षों की भांति इस वर्ष भी 'योग महोत्सव' क्रमशः ६,७ व ८ जून ८४ को बड़े धूमधाम से मनाया गया। देश के कोने-कोने से आकर हजारों भाई बहिनों ने पुण्य लाभ उठाया।

६ जून ८४ को प्रातःकाल आश्रम से प्रभात फेरी निकाली गई जिसमें बड़ी संख्या में भाई-बहिनें भजन-संकीर्तन करते ऋषिकेश के प्रमुख मार्गों से जा रहे थे। परम तपस्विनी बहिन सुश्री उमा शर्मा जब अपने सुमधुर कण्ठ से—'उठो सोने वालो जगाने वाले आ गये, योग का डंका बजाने वाले आ गये, मानो की सी प्रातः कालीन निद्रा में लीन स्त्री-पुरुष उठ कर भजन संकीर्तन सुनते एवं उस उषा-कालीन प्रभात की लालिमा में उन अनन्त योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन महाराज जी के देदीप्यमान ओज तथा तपोमयरूप के दर्शन कर आनन्दित हो उठते थे। आदरणीय भाई श्री सुरेन्द्र जी (दूधवाला) ध्वनि विस्तारक यंत्र से योग महोत्सव कार्यक्रम की सूचनायें देते जाते थे। 'प्रभु श्री रामलाल संगीत विद्यालय' एवं सत्संग मण्डल (झांसी) ने एक भजन 'यहाँ योग सुधा बरसाने आ गये हमारे प्रभुजी' गाया तभी गुरुदेव की कृपा हुई और ताप से पीड़ित जन मानस को शांति देने के लिये २॥ घण्टे तक मूसलाधार वर्षा हुई।

कैंसर, हृदयरोग, उच्च रक्तचाप का निवारण

अनन्त योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन महा-

राज जी ने अपने प्रवचन में कहा कि योग साधक योग के किसी एक अङ्ग का यदि गुरु-देव द्वारा बतलाई विधि से सतत् अभ्यास करता रहे तो उसे अवश्य सफलता मिलती है। आपने कहा कि देवरहा बाबा जब मुज-फ्फरपुर के एक गाँव के खेत में खेचरी मुद्रा करने का प्रयत्न कर रहे थे, वह मुद्रा नहीं हो पा रही थी तो उसी समय पूर्ण सिद्धि योगी परम प्रभु श्री रामलाल जी जो महाराज वायु मार्ग से जा रहे थे, उन्होंने देवरहा बाबा पर अपनी कृपा की और उन्हें खेचरी मुद्रा करवादी। उसी मुद्रा के अभ्यास से आज देव-रहा बाबा दीर्घायु है। आपने सर्प का उदाहरण देते हुये कहा कि वह अपनी जिव्हा से सदैव शीतली करता रहता है, जिसके कारण उसकी हजार वर्ष आयु होती है। शीतली प्राणायाम शरीर के समस्त विकारों का शमन करता है। यदि कोई व्यक्ति शीतली प्राणायाम का अभ्यास करता रहे तो वह कैंसर, हृदयरोग उच्च रक्तचाप और अर्श रोग से मुक्ति पा सकता है।

महाराज जी ने कहा कि तुम सभी दो घण्टे जाप और एक घण्टे तक नित्य अपने गुरुमन्त्र का ध्यान अवश्य किया करो इससे सभी का आत्मोत्थान होगा।

रामरती उद्धार

परम कृपा निकेतन गुरुदेव ने सुनाया कि रामरती वेश्यावृत्ति एवं मदिरापान किया करती थी उसके परिवार वालों के मना करने पर भी वह अपनी बुरी आदतों को नहीं छोड़ती थी। परम पूज्य सर्व समर्थ कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं की शक्ति वाले प्रभु श्री रामलाल जी ने रामरती से पूछा कि मदिरा पीने से उसे कैसा लगता है। उसे बहुत आनन्द आता है, उसने उत्तर दिया। मदिरा से अधिक आनन्द दिलादें तो क्या वह मदिरा पीना छोड़ देगी, महाप्रभु ने कहा इससे पहिले महाप्रभु से ऐसा आश्वासन मांगा। महाप्रभु ने उस पर शक्तिपात किया और नेत्र बन्द कर ध्यान में बैठने को कहा। अब तो वह घण्टों एक आसन पर बैठी परमानन्द का लाभ उठा रही है। अब तो वह निरन्तर घण्टों ध्यान में बैठकर समाधि अवस्था को प्राप्त करने लगी। उसने सभी कुमार्गों के कर्म त्याग दिए। महाप्रभु ने साधनी बना दिया। रामरती के घर पर अभी भी महाप्रभु श्री रामलाल जी का चित्र प्रतिष्ठित है, गुरु-महोत्सव में पधारे उसके परिवार वाले एक सज्जन ने ऐसा बतलाया था।

महाराज जी ने कहा कि तुम उस स्थान पर बैठे हो जहाँ महाप्रभु ध्यान की तरंगें लगाते थे और अनेक लोगों ने योग दीक्षा लेकर समाधियाँ प्राप्त की है। महाराज जी ने कहा कि उन्होंने जीवन तत्व साधन से

अनेक योगियों को काया कल्प करते देखा है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अनेक संस्मरण सुनाये। इस स्थान पर प्रभुजी ने अनेकों को जीवन दान दिया। महाराज जी ने कहा महाप्रभु ऐसे गुरु नहीं थे—

काना बाती कुई, तू चेला मैं गुरु।

श्री महाप्रभु रामलाल जी के ४० निर्माण शरीर

श्री गुरुदेव भगवान ने अपने प्रवचन में कहा कि महाप्रभु जी ने ४० शरीर निर्माण किये और अभी हिमालय पर तपश्चर्या कर रहे हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व ७ सिद्धों के साथ नेपाल में विचरण कर रहे थे। रास्ते में एक व्यक्ति ने उनसे उसका कल्याण करने की प्रार्थना की। मामथा अमामथा वे अपने बच्चों को सन्मान देते हैं। उन्होंने उस व्यक्ति से कहा कि तुम हमारे बच्चे चन्द्रमोहन सिद्ध-गुफा सवाई के पास जाओ और उनसे पुष्प प्रसाद ले लेना। तुम्हारा कल्याण हो जायगा। वह ढूँढता-ढूँढता सिद्धगुफा सवाई आया और श्री गुरुदेवश्री महाराज से प्रसाद मांगा। महाराज जी ने उसे मिठाई का एक डिब्बा उठाकर दिया तो उसने नहीं लिया। उसने महाराज जी से प्रार्थना की कि मुझे महाप्रभु श्री रामलाल ने पुष्प प्रसाद के लिये भेजा है। महाप्रभु श्री रामलाल जी तुम्हें कहाँ मिले थे, उनका शरीर आकृति कैसी है, महाराज जी ने उससे पूछा। उसने महाप्रभु के जटा, शरीर आकृति वर्ण की सभी बतलाई। तब महाराज जी ने उसे पुष्प प्रसाद दिया और वह लेकर उसी क्षण चला गया।

योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का हिमालय के लिए प्रस्थान की आकांक्षा एवं महाप्रभु जी का निर्देश

परम पूज्य गुरुदेव ने बतलाया कि दीक्षा लिया महाप्रभु श्री रामलाल जी से प्राप्तकर ऋषिकेश 'योग साधन आश्रम' में थे तब उन्होंने निश्चय किया था कि वे हिमालय पर योग साधना करने चले जायेंगे और कभी भी वापिस न लौटेंगे। उन्होंने आश्रम के एक व्यक्ति से बड़ का दूध मँगवाया और अपनी जटाओं में लगा लिया और आश्रम से बाहर निकलने ही वाले थे कि महाप्रभु जी ने एक आदमी से पत्र भिजवाया जिसमें उन्होंने महाराज को (श्री चन्द्रमोहन जी) को लिखा था कि हम तो संसार में हैं और तुम हिमालय जा रहे हो। बेटा तुम हिमालय न जाओ और योग का प्रचार करो। तभी से ये इस योग-प्रचार में लगे हैं।

श्री हरिभक्त चैतन्य जी के ध्यानानुभव

श्री हरि भक्त चैतन्य जी जो कश्मीर से पधारे थे, उन्होंने अपने प्रवचन में कहा कि जब उनकी आयु ५ वर्ष की थी उनका नाम संस्करण किया गया तो उनकी माता ने उनके सामने

अनेक पुस्तकें रखीं उनमें से उन्होंने एक धार्मिक पुस्तक उठा ली। उससे परिवार वालों ने सोचा कि इस बच्चे की धार्मिक रुचि होगी तदनुसार उसका नाम हरि भक्त चैतन्य रखा। चैतन्य जी ने प्रथम विद्यार्थी जीवन में श्रेणी में उच्च परीक्षायें पास कीं।

अविवाहित रह कर वे अनेक वर्षों तक गायत्री मन्त्र का जाप तथा बीहड़ जंगलों में साधना करते रहे। योग की जिज्ञासा से उन्होंने सम्पूर्ण भारत का व अनेक योगाश्रमों का भ्रमण किया किन्तु पूर्ण सिद्ध योगी न मिल सके। पूज्य गुरुदेव के बारे में जब उन्होंने सुना तब वे श्री गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की शरण में आ गये और योग की उच्च साधना में लगे हैं। उन्होंने योगी के आचरणों के सम्बन्ध में बतलाया कि योग साधना को देवालयों के प्रांगण आदि में न आना चाहिये।

संगीत कार्यक्रम

बाहर से पधारे संगीतकारों में भानपौल तबला वादक तपस्विनी बहन उमा शर्मा की रोचक रचनायें, 'हे योग जगत में सार और कुछ सार नहीं है,' पद के गायन, और [illegible] के भाई श्री [illegible] शर्मा द्वारा महाभारत में कथा [illegible] ने आश्रम के वातावरण को अधिक रसमय बना दिया।

ब्रह्म भोज एवं भण्डारा

पूज्य गुरुदेव की [illegible]। पन्द्रही साधुओं, को ब्रह्म भोज व भाई-बहिनों के लिये विशाल भण्डारा किया गया।

गंगा दशहरा की भव्य शोभा यात्रा

८ जून ८४ को गंगा दशहरे के दिन लाक्सर मेला में 'योग साधन आश्रम' से अनेक आकर्षक झांकियाँ निकलीं रामरती का [illegible] रामरती पर महाप्रभु की कृपा, महाप्रभु के द्वारा रामरती पर शक्तिपात करना, भूतभावन शंकर, राधा-कृष्ण, राम-सीता आदि की आकर्षक झांकियाँ थीं। १८ विद्युत से चालित, महाप्रभु श्री रामलाल जी की सवारी, [illegible], फिरोजाबाद तथा प्रभु श्री रामलाल संगीत विद्यालय झांसी, [illegible] बाजार झांसी की [illegible] विशाल पथ पर [illegible] बाजे, हाथ में [illegible] के अखाड़े के लट्ठ-तलवार, गदा-बल्ली, गदा-मुग्दर, फरसा, लकड़ियों के दाव-पेंच आदि अस्त्र-शस्त्रों पर अपने अनूठे करतब दिखाते, ढोल तथा बाजों के साथ [illegible] अपने-अपने प्रदेश की रंग-बिरंगी पोशाकों में [illegible] के प्रमुख मार्गों से [illegible] हर्षोल्लास से चल रहे थे। बीच-बीच में योग से सम्बन्धित उद्घोषों—'योग को अपनाओ सच्चा जीवन पाओ' आदि से शोभा यात्रा में एक अनूठा दृश्य उपस्थित कर दिया था। पूज्य गुरुदेव प्रत्येक झांकी व संकीर्तन मण्डली पर अपने स्थान से उठकर बार बार सभी को दर्शन देते रहे। साथ में आश्रम की ओर से बर्फ के शीतल जल की व्यवस्था थी। विगत [illegible] वर्षों से यह अनूठी शोभा यात्रा की हम सभी को ऐसे योग महोत्सव में शामिल होने का प्रतिवर्ष सौभाग्य प्राप्त हो, यही श्री चरणों में बार बार प्रार्थना है।

परम तपस्वी ऋषि शमीक

✽ डा० राजकुमारी मिश्रा

पातञ्जल योगसूत्र में योग के ८ अङ्ग बताये गये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें भी यम व नियम के पाँच-पाँच भेद बताये गये हैं। ५ नियम हैं—शौच सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान। योगसूत्र के व्याख्याता श्री पतञ्जलि जी तप की व्याख्या करते हुए कहते हैं—द्वन्द्वसहनं तपः अर्थात् सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी मान-अपमान, लाभ-अलाभ आदि के द्वन्द्व अर्थात् जोड़ों को सहना ही तपस्या है। इसी तपस्या के बल पर योगी में परम श्रेष्ठ शक्तियों का उदय हो जाता है। समस्त अशुद्धिजनित आवरण मल नष्ट हो जाता है। काया शुद्धि व मनः शुद्धि के परिणामस्वरूप कायेन्द्रिय सिद्धि प्राप्त होती है। काय सिद्धि का अर्थ है, अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति व इन्द्रिय सिद्धि का अर्थ है इन्द्रियों की अलौकिक कार्यक्षमता की प्राप्ति यथा दूरश्रवण व दूरदर्शन इत्यादि। इसी बात को भगवान् पतञ्जलि भी इस प्रकार सूत्र रूप में कहते हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः

—पातञ्जल योगसूत्र २.४३

तपस्या द्वारा सभी अशुद्धियों को ऋषि शमीक ने निःशेष समाप्त कर दिया था। उनके मन में कभी कोई विकार नहीं आता था, न ही वे इन्द्रियों के दास थे। क्रोध को भड़काने वाली स्थिति में भी वे शान्तचित्त रहते थे, तथा अपराधी द्वारा क्षमा याचना न किये जाने पर भी वे उसे क्षमा कर देते थे। ऐसी उच्च मानसिक स्थिति विरले ही महापुरुषों में पाई जाती है। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने इसी सन्दर्भ में कहा है—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः —कुमारसम्भव।

ऐसे ही अलौकिक चरित्र सम्पन्न थे ऋषि शमीक। वे गौओं के रहने के स्थान पर आसन जमाये बैठे रहते तथा गौओं का दूध पीते समय बछड़ों के मुख से जो फेन निकलता उसी को खा-पीकर तपस्या करते थे। उन्होंने मौन व्रत धारण किया हुआ था।

एक बार राजा परीक्षित जंगल में शिकार खेल रहे थे। उन्होंने वराह, तरक्षु, भैंसे तथा अन्य जंगली जन्तुओं का खूब शिकार किया। एक दिन उन्होंने घने जंगल में तीक्ष्ण बाण मार कर एक मृग को बींध डाला व उसका बहुत दूर तक पीछा किया। बहुत दूर तक पीछा करने के बाद राजा को बड़ी थकावट हुई। वे प्यास से व्याकुल हो गये व भटकते हुए शमीक मुनि के पास पहुँचे। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक ऋषि के पास जाकर पूछा—"हे ब्रह्मन्! मैं अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित—हूँ। मेरे बाण से बिंधा हुआ एक मृग कहीं भाग निकला है। क्या आपने उसे देखा है?" परन्तु ऋषि मौन-व्रत का आचरण कर रहे थे, अतः उन्होंने राजा को कोई उत्तर नहीं दिया। तब राजा ने क्रोधित होकर धनुष की नोक से एक मरे हुए सर्प को उठाकर उनके कन्धे पर रख दिया, परन्तु मुनि ने कुछ नहीं कहा न ही उन्हें क्रोध आया, क्योंकि तपस्या द्वारा उनके समस्त विकार समाप्त हो चुके थे। उनकी यह शान्त अवस्था देखकर राजा परीक्षित का क्रोध दूर हो गया तथा वह मन ही मन दुःखी होकर पश्चात्ताप करने लगे व फिर अपनी राजधानी की ओर चले गये। वे धर्मपरायण ऋषि शमीक की वास्तविकता को नहीं जानते थे, इसलिए उन्होंने ऋषि का इस प्रकार अपमान किया। वे स्वधर्म-पालन में तत्पर श्रेष्ठ राजा थे, अतः क्षमाशील ऋषि ने उन्हें कुछ भी भला बुरा नहीं कहा।

परन्तु शमीक ऋषि के एक पुत्र था, 'श्रृंगी'। वह अभी तरुण ही था, परन्तु महान्, तपस्वी, अतितेजस्वी व महान् व्रतधारी था। उसमें उसका क्रोध भी बहुत अधिक था, अतः उसे प्रसन्न करना अति कठिन कार्य था। वह नियम समय पर मन व इन्द्रियों को संयम में रख कर सम्पूर्ण प्राणियों में लगे रहने वाले आचार्यदेव की सेवा में उपस्थित हुआ करता था। वह उस दिन आचार्य श्री की आज्ञा पाकर घर को लौट रहा था। रास्ते में उसका मित्र ऋषि-कुमार कृश [illegible] मिला; उसने हँसते हुए श्रृंगी को, उसके पिता शमीक के साथ घटित वह सारी घटना बतलाते हुए कहा—हे श्रृंगी! तुम तो बड़े तेजस्वी व तपस्वी हो, परन्तु तुम्हारे पिता अपने कन्धे पर मुर्दा साँप ढो रहे हैं। अतः तुम अब गर्व मत करना। तुम जैसे आज्ञा, ब्रह्मवेत्ता तपस्वी व ऋषिपुत्र जब कभी बातें करते हों, तब तुम कुछ मत बोलना। तुम्हारा पौरुष का अभिमान व हर्षभरी बातें अब कहाँ गईं जो कि तुम अपने पिता को मरा सा देख रहे हो? हे मुनि श्रेष्ठ! तुम्हारे निरपराधी पिता का यह अपमान मुझे अत्यन्त दुःखी कर रहा है जैसे मानो मेरे ही पिता का अपमान हुआ हो। अतः मैं यह सब तुम्हें कह रहा हूँ।

अब तो युवा तपस्वी श्रृंगी को बहुत क्रोध आया व उसने सारा वृत्तान्त विस्तार से पूछा। कृश ने भी उसे सारी घटना सच सच बता दी। इस प्रकार अपने पिता के कन्धे पर मृतक सर्प के रखे जाने का विवरण सुनकर श्रृंगी क्रोध से जल उठे। उस तेजस्वी बालक ने प्रचण्ड रोष के आवेश में जल से आचमन करके हाथ में जल लेकर राजा परीक्षित को उसी समय यह शाप दिया—जिस पापात्मा नरेश ने धर्मसंकटग्रस्त मेरे वृद्ध पिता के कन्धे पर मरा साँप रख दिया है, ब्राह्मणों के अपमान करने वाले उस कुरुकुलकलंक पापी परीक्षित—को आज से सात रात बाद प्रचण्ड तेजस्वी, श्रेष्ठ तथा भयंकर विषैला सर्पराज तक्षक, मेरे वाक्यबल से प्रेरित होकर व क्रोध में भरकर डस लेगा व उसे यमलोक पहुँचा देगा।

इस प्रकार शाप देकर श्रृंगी ऋषि अपने पिता के पास आये, जो मरा साँप धारण किये बैठे थे। पिता को उस अवस्था में देखकर श्रृंगी पुनः क्रोध से व्याकुल हो गये। वह दुःख से आंसू बहाने लगे तथा पिता से बोले—'हे पिताजी! परीक्षित द्वारा आपका अपमान सुनकर मैंने उसके अपराध के अनुकूल ही उसे भयंकर शाप दिया है। आज के सातवें दिन नागराज तक्षक उस पापी को यमलोक पहुँचा देगा।"

इस प्रकार क्रोधमुक्त श्रृंगी को उनके पिता शमीक ऋषि ने शान्त करते हुए कहा—'हे वत्स! तुमने शाप देकर मुझे प्रसन्न करने वाला कार्य नहीं किया है। यह तपस्वियों का धर्म नहीं है। हम लोग उन महाराजा परीक्षित के राज्य में निवास करते हैं। तथा वे भी न्याय-पूर्वक हमारी रक्षा करते हैं। अतः उनको शाप देना मुझे पसन्द नहीं आया। हमारे तपस्वियों को तो उनका अपराध क्षमा करना ही चाहिए। हे पुत्र! यदि धर्म को नष्ट कर दिया जावे तो वह मनुष्य का नाश कर देता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि राजा परीक्षित हमारी रक्षा न करे तो हमें भारी कष्ट सहन करना पड़ता है। राजा के बिना हम सुखपूर्वक धर्म का अनु-

(शेष टाइटिल के तीसरे पेज पर)

प्रदान नहीं कर सकते । तात ! धर्म पर दृष्टि रखने वाले राजाओं के द्वारा सुरक्षित रहे जाने पर ही हम अधिक से अधिक धर्म का आचरण कर पाते हैं । इसलिये हमारे पुण्यकर्मों में भी धर्मतः उनका भाग निश्चित है । अतः वर्तमान राजा परीक्षित के अपराध को क्षमा कर ही देना चाहिए । वे आज आखेट खेलते हुए थके हारे व भूखे यहाँ आये थे । वे तपस्वी नरेश मेरे मौनव्रत को नहीं जानते थे मेरे विचार से, शायद इसीलिए उन्होंने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है । तुमने भी मूर्खतावश बिना सोचे विचारे यह भयंकर शाप क्यों दे डाला ? हे पुत्र ! यह राजा कदापि शाप पाने के योग्य नहीं है ।'

—×— —×— —×— —×—

यह सुनकर शृंगी बोला—"हे पिताश्री ! यदि यह शाप अनुचित भी हो, तो भी कोई बात नहीं । आपको यह प्रिय लगे या अप्रिय, परन्तु यह शाप झूठा नहीं होगा । मैं कभी हँसी मजाक में भी झूठ नहीं बोलता । फिर शाप देते समय झूठ क्यों कर बोल सकता हूँ ।"

पुत्र की बात सुनकर शमीक ऋषि ने कहा—"बेटा ! मैं तुम्हारा तेजस्वी प्रताप जानता हूँ । तुम सत्यवादी हो, अतः यह शाप मिथ्या नहीं होगा । फिर भी पिता का कर्तव्य है कि वह पुत्र को उचित उपदेश दे । महान् तपस्वियों का भी क्रोध पर नियन्त्रण कठिनता से हो पाता है । तुम तो अभी बालक हो । यह क्रोध धर्म को क्षीण कर देता है । क्षमाशील साधकों के लिये ही इहलोक व परलोक कल्याणकारी होते हैं । क्षमाशील बनने का प्रयास करो । अब जो करना सम्भव है, मैं वही करूँगा । राजा के पास आज ही सन्देश भेज दूँगा कि तुमने मेरा तिरस्कार किया है, उससे क्रोधित होकर मेरे पुत्र ने तुम्हें सातवें दिन तक्षक द्वारा डसे जाने का शाप दे दिया है । यदि तुम कर सको, तो अपनी सुरक्षा का उपाय करो ।"

—×— —×— —×— —×—

तत्पश्चात्-क्षमा न ही अपराधी को क्षमा करने वाले शमीक ने अपने गौरमुख नामक एकाग्रचित्त व शीलवान् शिष्य को भेजकर राजा के पास इस प्रकार का सन्देश भिजवा दिया ।

धन्य है ऐसा क्षमाशील व्यक्तित्व जो दण्ड देने में समर्थ होकर भी अपराधी की याचना बिना ही उसे क्षमा कर सके । ऐसा, अपूर्व मनोनिग्रह श्रेष्ठ तपस्या द्वारा ही सम्भव है । परन्तु कहावत है—

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले, रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति

—भासरचित स्वप्नवासवदत्तम्

अर्थात् मृत्युकाल उपस्थित होने पर कोई भी किसी को नहीं बचा सकता । सारी सावधानियाँ बरतने पर भी शाप बल से प्रेरित होकर तक्षक नाग ने राजा परीक्षित को सातवें दिन छलपूर्वक डस ही लिया ।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 036 Dec. 1984

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, कराई (शमशाबाद) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

को ....

....

....

....

अस्मिता-निरोध

'अस्मिता-निरोध' भूमिका यानी आत्मदर्शन की भूमिका। यह अन्तिम भूमिका है। सद्विचार स्थिर किया, उसका अहंकार नष्ट करके आनन्द प्राप्त किया, फिर आनन्द की अस्मिता नष्ट की। इस प्रकार तीन भूमिकाएं प्राप्त कर, तीनों के पीछे विद्यमान अहंकार को भी उखाड़ दिया। साधक काफी ऊंची भूमिका में पहुंच गया है लेकिन इस अहंकार की उच्च भूमिका के पीछे भी अस्मिता रहती है। अहंकार का भी अहंकार होने लगता है। इसलिए इस अहंकार के भान को यानी उस अस्मिता को उखाड़ना है। इसमें यदि सफल होते हैं, तो समझना कि आत्मदर्शन की अन्तिम भूमिका प्राप्त हुई। आत्मा केवल अकर्ता, साक्षी मात्र है। इसमें भी अस्मिता का पर्दा हटाकर अकर्ता, साक्षी में मिल जाना। ... शून्य बनकर आत्मा-सत्ता को प्राप्त करना है।